

भारखण्ड दर्शन

बाँध कैसे बनें □ 'डाइन' की असलियत □ महिला मजदूरों
की हालत □ कोयला मजदूर और काला फेफड़ा □
छो नाच—एक अनूठी लोककला □ भारखण्ड आन्दोलन
और मजदूर □ मुंडारी की लिपि की समस्या
□ कुमी नहीं, कुड़मी आदिवासी हैं □ मुंडा
जातियों की प्राचीन सभ्यता □ सांप्रदा-
यिकता का खतरा □ भारखण्ड
आन्दोलन पर एक नज़रिया
□ कहानी और कविताएं



‘मारखण्ड दर्शन’ किसी गुट का मुखपत्र नहीं, बल्कि मारखण्ड की तमाम जनता की पत्रिका है। मारखण्ड के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन की वास्तविकताओं का विश्लेषणात्मक प्रतिबिम्बन ‘मारखण्ड दर्शन’ का मुख्य उद्देश्य है। मारखण्ड की विभिन्न जातियों-जनजातियों की भाषाएँ, संस्कृति, लोक कला, इतिहास, मजदूरों किसानों छात्रों-महिलाओं की समस्याएँ, शिक्षा-स्वास्थ्य पर्यावरण की समस्याएँ, मारखण्ड एवं मजदूर आन्दोलन के अन्तर्संबंध, विकास संबंधित समस्याएँ आदि पर तथ्यनिष्ठ एवं अनुभव-जन्य विचार एवं विश्लेषण मारखण्ड आन्दोलन के लिए बहुत ही जरूरी है और ‘मारखण्ड दर्शन’ इस जरूरत को पूरा करने के प्रयासों में से एक है। मारखण्ड के सामाजिक कार्यकर्ताओं, विभिन्न जन संगठनों में कार्यरत साथियों तथा पाठकों से हम आग्रह करते हैं कि वे ‘मारखण्ड दर्शन’ के इस प्रयास को सार्थक बनाने में सहभागी हों। आप की रचनाओं के बिना इस प्रयास का सफल होना संभव नहीं है।

हिन्दी मारखण्ड की आम भाषा नहीं है। ‘मारखण्ड दर्शन’ के लिए लेखों की भाषा की शुद्धता या रचना शैली इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी विषयों की प्रासंगिकता और दृष्टिकोण। यह भी जरूरी नहीं है कि आप जाने-माने लेखक हों। आइए, हम सब मिलकर मारखण्ड की मेहनतकश जनता एवं कमजोर वर्गों के पक्षधर ‘मारखण्ड दर्शन’ को सफल तथा आन्दोलन का सक्रिय संगी बनाएं !

सम्पादकीय

भारखण्ड दर्शन का दूसरा अंक प्रस्तुत है। अप्रैल महीने में आपके हाथों में पहुँचाने का वादा था। एक महीने की देरी हो गयी। मुआवजे के रूप में, 'देर आयद, दुस्त आयद' की कथनी का अनुसरण करते हुए अंक में अधिक सामग्री शामिल की गयी है— उसी कीमत पर।

प्रथम अंक में कहे गये पत्रिका के उद्देश्य के अनुसार हमने भारखण्ड की कुछ समस्याओं और पहलुओं को उजागर करने की कोशिश की है। बान्ध और सिंचाई की समस्या, डाइन की समस्या, महिला मजदूरों की समस्या, कोयला खदानों में काले फेफड़े की बिमारी, भारखण्डी भाषाओं की लिपि की समस्या तथा साम्प्रदायिकता की समस्याओं पर लेख प्रस्तुत किये गये हैं। इसके अलावा, भारखण्ड आन्दोलन के साथ मजदूर आन्दोलन के सम्बन्ध, छौ-नृत्य की अनूठी लोककला, कुड़मियों के आदिवासी होने के प्रश्न, भारखण्ड आन्दोलन और आग्नेय जातियों के गौरवमय इतिहास पर भी दिलचस्प जानकारी से युक्त रचनाएँ शामिल की गयी हैं। और साथ में कहानी के रूप में उजड़ते भारखण्डी का दर्द और चन्द कविताएँ।

अनेकों समस्याएँ हैं, उनके अनेकों आयाम। परतों के नीचे दबा पड़ा लम्बा रहस्यमय इतिहास। लोककलाओं और साहित्य का इफरात अप्रकाशित भण्डार। शोषणकारी संस्कृति और समाजव्यवस्था से हटकर समतावादी जीवन पद्धति की अनोखी मिसाल। भारखण्ड को समझना तो सचमुच एक अद्भुत किन्तु अज्ञात दुनिया में प्रवेश करना है। तोड़कर, बिखेर कर, दबाकर एवं पददलित करके भारखण्ड की वस्तुस्थिति और अस्मिता के बारे में न केवल बाहरवालों को बल्कि खुद भारखण्डियों को अन्धकार में रखने की एक साजिश रची गयी है। भारखण्ड दर्शन के लेख इस साजिश का पर्दाफाश करते हुए वस्तुस्थिति और भारखण्ड की अस्मिता को जानने और समझने के लिए कुछ सूत्र उपस्थित करते हैं। □

प्रतीक्षा

जे० पशुपति

गाँव था वह कभी आदिम युगीन
सम्य भावनाओं से
सहज प्राकृतिक रहस्यमय परत से,
छिपटा हुआ, बिस्कुल शांत-सा ।
नए वक्त ने पहले ही
शुरू कर दिया था, उन परतों को
धीरे-धीरे खिसकाना ।
अचरज की बात नहीं
यथार्थ की गहराई में पड़े चूने पत्थर को
पहचान लिया था पूँजोवादी नजरों ने;
यही वक्त था जब
मजदूरों ने जन्म लिया, किसानों के बीच
अन्तहीन दमन से आहत
मेहनती हाथों ने अब थाम लिया है
हसुँए के साथ हथौड़ा,
अब विकल है उगने की प्रतीक्षा में
सबरे का लाल सूरज ।

कोठी किसकी ? भुगगी किसकी ?

चेरबन्डा राजू

पर्वत को फोड़ कर, पत्थरों को तोड़ कर
शहर बनाये, ईंट लहू से जोड़कर
धन किसका है ? श्रम किसका है ?
बंगल को काटकर, धरती को जोतकर
फसलें उगाई, नहरों से सींचकर
भात किसका है ? माँड़ किसका है ?
जुलाहों ने ताना ओ बाना लगाकर
कपड़े बुने नस-नस को धागा बनाकर
गमीं किसकी है ? ठंडी किसकी है ?
मशीन चलायी, पैदावार बढ़ाई
ताकत की बिजली से फैक्टरी चलायी
कोठी किसकी है ? भुगगी किसकी ?

आशा गीत

डेइजी जमोरा

(कविता का चयन और अनुवाद: विक्रम दास)

एक दिन
खेतह रे-भरे रहेंगे
और काली मिट्टी भीनी गंध से मँहकती रहेगी ।
हमारे बच्चे
उस जमीन पर पलकर बड़े होंगे,
फिर हमारे बच्चों के बच्चे.....
और वे पहाड़ी वृक्षों व पक्षियों की तरह
आजाद होंगे;
वे हर दिन सुबह उठेंगे
दिलों में जीने की खुशी लिये,
यह जानते हुए
कि उन्हीं के लिए इस जमीन को
वापस जीता गया है;
एक दिन.....
आज हम सूखी धरती को जोत रहे हैं
हल की हर सीता खून से भीगी हुई ।



छोटानागपुरसंथाल परगना में बड़े बाँधों का विकल्प

—धीर भारत तलवार

छोटानागपुर संथालपरगना में आज जो मुख्य समस्याएँ हैं, उनमें से एक यहाँ मझोले और बड़े बाँधों से होनेवाले उजाड़ की समस्या है। पिछले बीस सालों से कई मझोले और कुछ बड़े बांधों के बनने के सिलसिले में लाखों की संख्या में स्थानीय आबादी अपनी जमीन से उजाड़ गई। उजाड़े हुए परिवारों में से ज्यादातर को व्यवहार में फिर से बसाया नहीं गया। पुनर्वास बड़े खराब ढंग से हुआ और बड़ी संख्या में लोग अपनी आजीविका के एकमात्र साधन, जमीन से बेदखल कर दिए गए। बड़े पैमाने पर विस्थापन और नाम मात्र के पुनर्वास के कड़वे अनुभवों ने स्थानीय लोगों को सरकार की किसी भी सिंचाई योजना का विरोधी बना दिया। बिजली या सिंचाई के लिए बननेवाले बांधों के खिलाफ कई स्थानीय संगठन उठ खड़े हुए। जनता अब संगठित होकर बांधों का प्रतिरोध करने लगी। खासकर कुटकू बांध परियोजना (पलामू) सुवर्णरेखा परियोजना (सिंहभूम) और बिजली उत्पादन से संबंधित कोयल-कारो परियोजना (रांची) का विरोध संगठित ढंग से हुआ। सुप्रीम कोर्ट में इनके खिलाफ याचिकाएँ दायर हुईं। विरोध के सिलसिले में आन्दोलन और प्रदर्शन हुए, भूख हड़ताल हुई। सरकार ने गोली चलाकर विरोध को कुचलने की कोशिश की। पर विरोध जारी रहा। स्थानीय जनता के इस संघर्ष से आकर्षित होकर देश में पर्यावरण और बांधों से बँधे सवाल को उड़े कुछ बुद्धिजीवियों का ध्यान भी इस ओर गया। इस तरह स्थानीय प्रश्न सारे राष्ट्र के सामने उपस्थित हो गया है।

वर्तमान भारत में सिंचाई योजनाएँ बनाने, उन्हें लागू करने और उन पर नियंत्रण रखने का अधिकार सिर्फ राज्य को है। कुएँ या ट्यूबवेल जैसे सिंचाई की सीमित क्षमता वाले साधनों पर व्यक्तियों का निजी अधिकार है, हालाँकि

ट्यूबवेल जैसे साधन के लिए भी अधिकांश व्यक्ति सरकारी सहायता पर निर्भर करते हैं। पर जलाशयों पर आधारित किसी भी किस्म की सिंचाई योजना व्यक्तियों या ग्रामीण समुदाय के अधीन न होकर सिर्फ राज्य के अधीन है। राज्य का सिंचाई विभाग ही इन योजनाओं को तैयार करता, इन्हें लागू करता और इनपर निगरानी रखता है। राज्य की सरकार ने दूसरे इलाकों की तरह छोटानागपुर संथाल परगना में भी सिंचाई साधनों का विकास करना एकमात्र अपनी जिम्मेदारी और अपना अधिकार घोषित कर रखा है। इसके लिए वह करोड़ों रूपए खर्च करके यहाँ मझोले और बड़े बांध लगातार बनाती जा रही है। यहाँ की जनता भी सिंचाई का विकास करना चाहती है। पर वह सरकारी सिंचाई योजनाओं का, खासकर मझोले और बड़े बांधों का कड़ा विरोध करती है। तो फिर, छोटानागपुर-संथालपरगना में सिंचाई साधनों का विकास किस ढंग से हो ?

हमारे सामने सवाल यह है कि क्या छोटानागपुर संथालपरगना में सिंचाई का विकास करने के लिए मझोले और बड़े बांधों का बनना हर हालत में जरूरी है ? क्या मझोले और बड़े बांधों के बने बिना यहाँ सिंचाई का विकास संभव नहीं ? क्या इन बांधों का कोई विकल्प है जिससे खेती को पैदावार बढ़ाई जा सके।

पिछले एक साल से इन सवालों का व्यवस्थित अध्ययन करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि छोटानागपुर संथालपरगना में खेती की पैदावार बढ़ाने और इसके लिए सिंचाई का विकास करने के लिए मझोले और बड़े बांध जरूरी नहीं है। न सिर्फ जरूरी नहीं है, बल्कि उनसे जितना लाभ हो सकता है, उससे ज्यादा नुकसान हो रहा है। इन बांधों का विकल्प है। वह विकल्प क्या है ?

सीधे और सपाट ढंग से संक्षेप में कहा जाए तो, इन मझोले और बड़े बान्धों का विकल्प है—छोटे बान्ध। उन्हें सिंचाई संबंधी तकनीकी भाषा में, अंग्रेजी में “शैलों डैम” कहते हैं। शैलो यानी ऐसी चीज जिसमें ज़्यादा गहराई या ऊँचाई नहीं होती। बान्धों के हिसाब से छोटे बान्ध या शैलो डैम ऐसे बान्ध हैं जिनकी ऊँचाई 4 या 5 फुट से लेकर दस-पन्द्रह फुट तक हो सकती है। कुछ साल पहले रांची-गुमला की सीमा पर भरनो के पास बिहार सरकार ने एक मझोला बान्ध बनाया, परास डैम। इसकी ऊँचाई है 80 फुट। सिंभूम के खरसवां ब्रॉक के घने जंगलों के अंदर बिहार सरकार एक मझोला बान्ध बनाना चाहती है, सुरु डैम। इसकी प्रस्तावित ऊँचाई है—118 फुट। सिंभूम में चाण्डिल के पास सुवर्णरेखा नदी पर जो बान्ध बन रहा है, वह मझोला नहीं, बड़ा बान्ध है। ऊँचाई होगी—165 फुट। इन बान्धों के मुकाबले में 4-5 फुट से 10-15 फुट तक की ऊँचाई वाले बान्ध, जाहिर है, बहुत छोटे बांध होंगे। इन्हीं को शैलो डैम कहा जाता है। बान्ध बांधने में बान्ध की ऊँचाई एक निर्णायक तत्व होती है। बान्ध के जलाशय में कितनी जमीन डूब जाएगी, यह मुख्यतः बाँध की ऊँचाई पर निर्भर करता है। छोटानागपुर—संथाल परगना में खेती और सिंचाई के विकास के लिए सरकार द्वारा बनाए जा रहे मझोले और बड़े बान्धों का सही और वास्तविक विकल्प छोटे बान्ध ही हैं। इससे न सिर्फ जमीन के बड़े हिस्सों और गाँवों को डूबने से बचाया जा सकता है, बल्कि हर जगह सिंचाई के लिए पानी का इन्तजाम करना और पैदावार को बढ़ाना भी संभव है। इस विकल्प को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि को समझ लेना चाहिए।

सिंचाई का विकास और उसकी परम्परा

विकास एक ऐसी सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें कई तत्व होते हैं, जो आपस में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। विकास की प्रक्रिया के रूप में सिंचाई का सवाल

भी कोई अलग-थलग सवाल नहीं है। किसी इलाके में सिंचाई का सवाल उस इलाके की भौगोलिक स्थिति, वर्षा की कुल मात्रा, वर्षा गिरने की दर और अवधि, मिट्टी की किस्म, फसलों की किस्म, भूमिगत जल की मात्रा और स्तर तथा घरती को ढँककर रखने वाले भाड़—जंगलों की स्थिति से जुड़ा होता है। इतना ही नहीं, सिंचाई का सवाल उस इलाके के भू-स्वामित्व प्रणाली (यानी जमीन पर अधिकार किसका है और किसान की हैसियत क्या है), लगान बंदोबस्त (रेवेन्यू सिस्टम) और ग्रामीण संगठन से भी जुड़ा होता है। यह उस क्षेत्र की सामाजिक आर्थिक स्थिति, स्थानीय वर्ग-शक्तियों और उपलब्ध वैज्ञानिक तकनीक से भी जुड़ा होता है। एक तरह से सिंचाई का सवाल, विकास के दूसरे सवालों की तरह, पूरी सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा होता है। लेकिन स्वतंत्र भारत की राजनीतिक प्रणाली में राज्य सरकार और उसके सिंचाई विभाग के इंजीनियर सिंचाई के सवाल से जुड़े दूसरे सवालों पर ठोस रूप से खुल कर कुछ नहीं कहते; योजनाएं बनाते समय इनमें से बहुत से सवालों को जान-बूझकर नजर अन्दाज कर जाते हैं। इस तरह कुछ खास हितों को साधने के लिए वे सारे सवालों में से अपने मतलब की कुछ बातें चुन लेते हैं और राज्य के अधिकारों और ताकत के बल पर अपनी योजनाएं लागू करते हैं।

हिन्दुस्तान में आज जिस ढंग से विकास हो रहा है, वह ढंग देशी नहीं है। इस विकास के ढाँचे अपने देश की परिस्थितियों के बीच स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं हुए। चीन और जापान में सिंचाई का विकास भारत के मुकाबले बहुत अधिक हुआ है। जब हम इन देशों की सिंचाई व्यवस्था के साथ भारत की तुलना करते हैं तो दो बातें दिखलाई पड़ती हैं। चीन और जापान, दोनों ही देशों में बहुत साफ सिंचाई की योजनाओं और साधनों पर राज्य का एकाधिकार नहीं है, बल्कि अधिकांश मामलों में उनपर स्थानीय समाज का नियंत्रण है। दूसरी विशेषता यह है कि इन दोनों ही देशों में प्राचीन देशी सिंचाई प्रणाली को आज भी सुरक्षित रखा गया और उसका विकास भी किया

गया। भारत में ये दोनों बातें नहीं मिलतीं। भारत में न सिर्फ सिंचाई, बल्कि दूसरे मामलों में भी, मौजूदा विकास के ढाँचे अंग्रेजी हुकूमत के औपनिवेशिक दौर में हम पर थोपे गए थे और ये उन्हीं की विरासत हैं। सिंचाई परियोजनाओं को पूरी तरह राज्य के अधीन रखना और आधुनिक इंजीनियरिंग पर आधारित सिंचाई परियोजनाएं बनाना, ये दोनों बातें भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान शुरू हुईं। भारतीय समाज के प्रमुखशाली वर्ग, जो हम पर शासन करते हैं, आज भी विकास संबंधी धारणाएं और ढाँचे पश्चिम से हासिल करते हैं। इस तरह उन्होंने पश्चिमी दुनिया के प्रमुखशाली शासक वर्गों और विकास कार्यक्रमों के लिए पैसा देने वाली बड़ी वित्तीय संस्थाओं (जैसे वर्ल्ड बैंक) के हितों के साथ अपने हित मिला दिए हैं।

कोई भी व्यक्ति यह बात आसानी से समझ सकता है कि भारत जैसे विशाल महाद्वीपीय देश के सभी क्षेत्रों में विकास का एक जैसा ढाँचा लागू नहीं हो सकता क्योंकि अलग-अलग प्रदेशों और इलाकों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं: उनकी भौगोलिक बनावट, प्राकृतिक साधनों और आर्थिक-सामाजिक स्थिति में काफी फर्क है। किसी भी इलाके का विकास उस इलाके की परिस्थितियों के मुताबिक ही किया जा सकता है। उसकी परिस्थितियों का ख्याल किए बिना उसके ऊपर विकास का कोई ढाँचा थोप नहीं देना चाहिए। अगर थोपा जाएगा तो, उसके नतीजे गलत निकलेंगे, विकास होने की जगह तनाव और अन्तर्विरोध बढ़ेगा। छोटानागपुर-संथालपरगना में आज यही हो रहा है।

विकास की प्रक्रिया प्राचीन काल से चली आ रही प्रक्रिया है। यह बात नहीं है कि छोटानागपुर-संथाल परगना में आज ही विकास शुरू हुआ हो। पहले, प्राचीन काल में भी यहाँ विकास की प्रक्रिया चलती रही थी। 16 वीं से 19 वीं सदों तक यहाँ खेती और सिंचाई, दोनों में किस तरह का महत्वपूर्ण विकास हुआ, इसकी खोज होनी अब भी बाकी है। नए विकास को

पहले से चली आ रही विकास की प्रक्रिया के अंदर से निकलना चाहिए या कम से कम बाकी परिस्थितियों के मेल में होना चाहिए, ऊपर से थोपा हुआ नहीं। विकास की प्रक्रिया भी एक संवाद या प्रश्नोत्तरी (डायलाग) की तरह होती है। उसके अन्दर से कुछ सवाल उठते हैं जिनका जवाब विकास के नए रूपों से दिया जाता है। इस तरह सारा विकास अन्दर से उठने वाले सवालों (समस्याओं) के जवाब (विकास कार्यों) के रूप में चलता है। अगर कोई ऐसा जवाब लेकर हाजिर हो जाए जिसके लिए अंदर से कोई सवाल ही नहीं उठा था, तो जाहिर है, वह जवाब बेतुका लगेगा। उससे संवाद या प्रश्नोत्तरी का स्वरूप बिगड़ जाएगा। सरकार आज सिंचाई के विकास के लिए मझोले और बड़े बान्धों के रूप में जो जवाब पेश कर रही है, वह ऐसा ही जवाब है, जो किसी सवाल के उठे बिना ही दिया जा रहा है। इसलिए वह जवाब छोटानागपुर-संथालपरगना के विकास की प्रश्नोत्तरी (डायलाग) में जंच नहीं रहा, “फिट” नहीं हो रहा।

देखना यह चाहिए कि किसी भी इलाके में विकास की अपनी परम्परा क्या रही है। सभी चीजों की तरह विकास की भी अपनी परम्परा होती है। जो परम्परा किसी इलाके में सड़कों सालों से आजमाई हुई है, जनता के अनुभवों ने जिसे समृद्ध किया है और जो वहाँ की भौगोलिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के मेल में रह कर विकसित हुई है, उस परम्परा को तिरस्कार या उपेक्षा की नजर से नहीं देखना चाहिए। उस परम्परा की अज्हाइयों की रक्षा करनी चाहिए। उसका विकास करना चाहिए, न कि उस पर विकास का एक ऐसा ढाँचा थोप देना चाहिए जो उसके लिए अजनबी हो, जो उसके अन्दर से नहीं निकलता और उसकी परिस्थितियों से मेल नहीं खाता। जब हम छोटानागपुर-संथालपरगना में सिंचाई के सवाल पर विचार करते हैं तो सबसे पहले देखना यह चाहिए कि छोटानागपुर-संथालपरगना में सिंचाई की अपनी भी कोई परम्परा रही है या नहीं? अगर रही है, तो वह कौन सी परम्परा है? अगर

उसमें कोई अन्धाई हो, तो उसे बरकरार रखना चाहिए, नई पैदा हो गई जरूरतों के मुताबिक उसमें नई तकनीक लगाकर उसका विकास करना चाहिए। छोटानागपुर-संथाल परगना में सिंचाई के सवाल का जवाब अगर हम खोजना चाहते हैं तो उसकी खोज की शुरुआत इसी बिन्दु से हो सकती है।

छोटानागपुर-संथालपरगना में सिंचाई की परम्परागत प्रणाली

पुराने दस्तावेजों से छोटानागपुर-संथालपरगना में सिंचाई की जिस प्रणाली का पता चलता है, वह बान्ध और आहरों की प्रणाली है। 1901-03 में बैठाए गए भारतीय सिंचाई आयोग की रिपोर्ट (आगे से इसे सिर्फ आयोग कहेंगे), अलग-अलग जिलों के सेटलमेंट अफसरों की रिपोर्ट और छोटानागपुर में नियुक्त पहले सर्वे सेटलमेंट आफिसर जॉन रीड की रिपोर्ट (आगे से सिर्फ रीड कहेंगे), से इस प्रणाली की बहुत सी जानकारी मिलती है। 19 वीं सदी के आखरी दशकों में और इस शताब्दी के आरम्भ में छोटानागपुर-संथालपरगना में हालाँकि खेतों की सिंचाई बहुत कम होती थी, फिर भी जितनी सिंचाई होती थी उसका करीब 90% आहरों और बान्धों से होती थी। ये आहर या बान्ध बहुत सरल ढंग से बनाए जाते थे। बान्ध किसी ऊँची जगह पर ढलान की ओर बहते नाले या प्राकृतिक जल स्रोत को ऊँची मेड़ से बान्धकर बनाए जाते थे। इससे पानी रुक कर जलाशय में बदल जाता था जिसके तीन ओर तो प्राकृतिक रूप से ऊँची जमीन होती थी और एक ओर मिट्टी से बनी मेड़। मेड़ के अन्दर वाली ढाल पत्थरों से भर दी जाती थी। इस तरह के बान्ध या आहरों की एक विशेषता यह थी कि आम तौर पर इनसे कोई नहर या नाली नहीं निकाली जाती थी।

ऊँचाई पर होने के कारण इन बान्धों या आहरों में जमा पानी धरती के अन्दर सोखकर चला जाता था और बान्ध या आहर के नीचे पड़ने वाले खेतों तक पहुँच जाता

था जिसे धान के पौधे अपनी जड़ों में खींच लेते थे। छोटानागपुर संथालपरगना में परम्परागत सिंचाई प्रणाली की यह विशेषता ध्यान में रखने लायक है कि खेतों में पानी नहर के जरिए नहीं पहुँचाया जाता था। 1901-03 में जब सिंचाई आयोग छोटानागपुर संथालपरगना में आया तो उसने यहाँ सिंचाई के लिए बने इसी तरह के बान्धों और आहरों को देखा। इनका विवरण देते हुए आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा, “यहाँ घाटी के पानी को 8-10 फुट ऊँची मेड़ों से बान्धकर तलाब या आहर बनाने की प्रणाली हर जगह मिलती है। आम तौर पर इनके साथ पानी की निकासी के लिए कोई नहर या नाली नहीं बनाई जाती। पानी सोखकर (भूमिगत होकर) नीचे पड़नेवाली धान के खेतों को सींचता है। जब जलाशय से पानी पूरी तरह निकल जाता, सब खुद जलाशय की नमी वाले तल पर गेहूँ या चने बो दिए जाते हैं और रबी की अच्छी फसल हो जाती है।” (पृ० 172 भाग II, आयोग)

इस तरह के बान्धों और आहरों की प्रणाली का पता जॉन रीड की रिपोर्ट से भी चलता है। उसने धालभूम इलाके के बारे में लिखा कि, “करीब हर एक गाँव में एक एक बान्ध या तलाब है जिसका पानी सोख कर (By Percolation) निचले धरातल की फसल को पहुँचता है या कभी कभी नाली बनाकर पानी को काफी दूर तक ले जाया जाता” (पृ० 48, फील्ड रिपोर्ट ऑन सर्वे एण्ड सेटलमेंट इन धालभूम, 1906-11)

रीड की रिपोर्ट से पता चलता है कि बान्ध या आहर से नालियों के जरिए भी पानी खेतों में पहुँचाया जाता था। पर जैसा कि रीड ने खुद कहा, ऐसा “कभी कभी” किया जाता था। आम तौर पर सिंचाई मिट्टी द्वारा पानी के सोखने से होती थी। ऐसे बान्ध जिनसे नहर के जरिए पानी दूर तक ले जाया जाता हो, अपवाद स्वरूप ही थे। मिसाल के लिए धालभूम के सेटलमेंट ऑफिसर ने वहाँ के एक ऐसे बड़े बान्ध का जिक्र किया है जिससे 20 मील लम्बी नहर निकाली गई थी। ऐसा ही, पर इससे कुछ छोटा, दूसरा उदाहरण राँची जिले में था। जमींदार

बुधवचन्द्र राय ने, जो ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे, आयोग को बतलाया कि बुण्ड में गन्ने की खेती होती है और इसके लिए वहाँ एक विशाल बान्ध है जो बुण्डबान्ध के नाम से मशहूर है। यह बान्ध बुधवचन्द्र राय की निजी सम्पत्ति था और इससे चार मील दूर तक सिंचाई होती थी। पुराने दस्तावेजों में बड़े बान्धों के सिर्फ यही दो उदाहरण मिलते हैं। जाहिर है कि ये अपवाद थे। बुण्ड बान्ध लम्बाई-चौड़ाई में बड़ा जरूर था, पर उसकी ऊँचाई, खुद बुधवचन्द्र के मुताबिक, सिर्फ 10 या 12 फुट थी।

सिंचाई के लिए बने आहरों और बान्धों का आकार आम तौर पर बड़ा नहीं होता था। मानभूम के सेटलमेंट ऑफिसर के मुताबिक उनका आकार आम तौर पर आधे एकड़ से ज्यादा नहीं होता और कुल ऊँचाई आठ या नौ फुट से ज्यादा नहीं। पलामू में इस तरह के आहरों की संख्या सबसे ज्यादा थी। वहाँ के उपायुक्त एफ० टी० लायल ने आयोग को बतलाया कि ये बान्ध या आहर 50 से लेकर 100 बीघे तक अथवा 16 से 33 एकड़ तक जमीन की सिंचाई करते थे। (पृ० 93, मिनेट्स ऑफ-एविडेन्स, बंगाल, आयोग) ज्यादातर बान्ध और आहर गर्मी शुरू होने के बाद सूख जाते थे।

छोटानागपुर-संथाल परगना में बान्ध और आहर से सिंचाई करने की प्रथा कब से चली आ रही थी, इसका ठीक से पता नहीं चलता। उपलब्ध दस्तावेजों से मालूम होता है कि ये बान्ध और आहर समय-समय पर बनाए जाते रहे हैं, खासकर अकाल के दिनों में। अंग्रेजी राज्य में सिंचाई का काम व्यावसायिक मुनाफा कमाने के लिए होता था और 1860 में पहली बार ईस्ट इंडिया इरीगेशन एण्ड केनाल कम्पनी की स्थापना हुई थी। लेकिन 1860 में ही बंगाल में अचानक अकाल भी पड़ा था। इसलिए यह जाहिर है कि अंग्रेजी राज में सिंचाई के विकास का सवाल बार-बार पड़नेवाले अकालों के सिलसिले में उठा था। एक सवाल के जवाब में मि० लायल ने आयोग को बतलाया कि पलामू की सरकारी रियासत में 30 साल पहले सिर्फ 190 आहर थे, अब 1200 आहर हैं। लायल ने यह

बयान 1901 में दिया। मतलब यह हुआ कि 1870 से लेकर 1900 ई० तक के बीच पलामू की सरकारी रियासत में आहरों की संख्या में 1070 की वृद्धि हुई। इतनी अधिक वृद्धि का कारण 1896-97 और 1899-1900 में पड़े अकाल थे और लायल ने उचित ही आहरों की संख्यावृद्धि को अकाल से जोड़ा। रीड को रिपोर्ट से भी इसकी पुष्टि होती है। रीड ने लिखा है कि छोटानागपुर के लोग समय पर वर्षा नहीं होने से आनेवाले सूखे या अकाल की मार से बचने के लिए बहुत जल्दी बान्ध बना डालते हैं ताकि फसलों को नमी मिल सके। 1900 ई० के आस-पास छोटानागपुर-संथालपरगना में सिंचाई के साधनों के सही आँकड़े नहीं मिलते, इसका एक कारण यह भी था। रीड ने लिखा कि सिंचाई के आँकड़ों को देखने से लगता है कि सिंचाई वाला क्षेत्र बहुत कम है। इसका कारण आँकड़े तैयार करने का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के मुताबिक सिर्फ उसी क्षेत्र को सिंचित माना गया है जिसमें सिंचाई हर साल होती हो। इसमें उन बान्धों को छोड़ दिया गया जो वर्षा न होने पर अकाल से बचने के लिए लोग तुरन्त बना लेते थे।

सिंचाई के लिए कुओं का इस्तेमाल कम होता था क्योंकि एक तो कुएँ निजी तौर पर ही खोदे जा सकते थे और इसलिए किसान को महँगे पड़ते थे। दूसरी बात यह है कि कुएँ से ज्यादा से ज्यादा एक-डेढ़ एकड़ तक की ही सिंचाई हो सकती है। कुओं का इस्तेमाल पोस्ता और गन्ने के खेतों या सब्जी की क्यारियों के लिए होता था। कुओं से सिंचाई के लिए निचली घाटियाँ ही ज्यादा सुआफिक होती हैं जहाँ भूमिगत जलस्तर ऊँचा हो। कुओं से सिंचाई का चलन सबसे ज्यादा उत्तरी हजारीबाग में कोडरमा की रियासत में था। कुएँ कच्चे और पक्के, दोनों तरह के होते थे, अगर बाँध और आहरों पर नजर दौड़ाई जाए तो, 1901-02 के करीब आहरों की सबसे ज्यादा संख्या पलामू में थी। उत्तरी पलामू और उत्तर-पश्चिम हजारीबाग में बाँध और आहरों का झुण्ड दिखाई पड़ता था। इनका दूसरा

मुण्ड सुवर्णरेखा और दामोदर नदी की निचली घाटियों में अर्थात् दक्षिण-पश्चिम बंगाल से सटे हुए मानभूम के इलाके में था। घालभूम में, रीड के मुताबिक, हर गाँव में एक बाँध या आहर था। राँची और राँची से लगनेवाले सिंहभूम के इलाके में ऐसे बाँध और आहर कम थे। छोटानागपुर संथाल परगना में कुल खेती की जमीन में सिंचाईवाला क्षेत्र सिर्फ 4% था। इस सिंचाई वाले क्षेत्र की 90% सिंचाई बाँधों और आहरों पर निर्भर करती थी। यह सिंचित क्षेत्र उत्तरी पलामू, उत्तर-पश्चिम हजारीबाग, मानभूम और सिंहभूम के घालभूम इलाकों में ज्यादा था, शेष हजारीबाग, राँची और सिंहभूम में कम था। पर बाँधों और आहरों के आँकड़ों को पूरी तरह से सही नहीं कहा जा सकता। फादर हॉफमैन ने राँची जिले में मुण्डाओं द्वारा आहरों और बाँधों के उपयोग की बात लिखी है। पर जिले के सेटलमेंट रिपोर्ट में रीड ने इनका कोई हवाला नहीं दिया। राँची जिले में बाँध और आहर रख-रखाव के अभाव में नष्ट होते जा रहे थे।

इन बाँधों और आहरों का निर्माण कौन करता था? इन पर नियन्त्रण किसका था?

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रभु महापात्र ने 1880 से 1920 के बीच छोटानागपुर से रोजगार की खोज में मजदूरों के बाहर जाने की प्रथा पर अपने शोधकार्य के अन्तर्गत छोटानागपुर में खेती और सिंचाई की स्थिति का महत्वपूर्ण अध्ययन किया है। उनके अप्रकाशित अध्ययन से बाँधों और आहरों के निर्माण और उन पर नियन्त्रण के बारे में कई जानकारी मिलती हैं। छोटानागपुर-संथालपरगना में जमींदारी प्रथा लागू थी। खास छोटानागपुर रियासत में राजस्व का स्थायी बन्दोबस्त था। छोटानागपुर डिविजन का दो-तिहाई इलाका सीधे सरकार के नियन्त्रण में था—या तो सरकारी रियासतों के रूप में अथवा सरकार द्वारा निगरानी के लिए अपने हाथ में ले ली गई जमींदारियों (इस्टेट अंडर कोर्ट ऑफ वार्ड) के रूप में। बाकी इलाका राजाओं और छोटे-बड़े जमींदारों के कब्जे में था।

प्रभु महापात्र के अनुसार पलामू जिले में आहर प्रणाली की एक विशेषता यह थी कि ज्यादातर आहर कुछ खास इलाकों में केन्द्रित थे। पलामू में आहरों द्वारा सिंचित कुल क्षेत्र 80,378 एकड़ था। इसमें से 76000 एकड़ क्षेत्र उत्तरी और मध्य पलामू के गढ़वा, हुसैनाबाद, पाटण, छतरपुर और डाल्टेनगंज के परगनों में था। यानी पलामू के कुल 11,180 आहरों में से करीब 9,013 आहर सिर्फ इन पाँच थानों में केन्द्रित थे। दूसरी विशेषता यह थी कि ये आहर जमींदारों की काश्त जमीन से जुड़े हुए थे। धान की खेती की जमीन ज्यादातर जमींदारों के कब्जे में थी। आहरों की जरूरत धान की खेती के लिए होती थी। आहरों का निर्माण खुद जमींदार कराते थे, पर अपने किसानों के बेगार से। जाहिर है, पलामू में जमींदारों द्वारा बड़ी संख्या में आहर इसीलिए बनवाए गए थे ताकि उनकी धान वाली काश्त जमीन को पानी मिल सके। इसलिए इन आहरों पर नियन्त्रण भी जमींदारों का रहता था। जिन किसानों से बेगार लेकर ये आहर बनाए जाते थे, उन्हें इनका लाभ नहीं मिल पाता था। लेकिन मानभूम इलाके में, जहाँ आहर प्रणाली काफी व्यापक रही, पलामू से बिल्कुल अलग मामला था। मानभूम में धान की एक तिहाई खेती आहरों से जुड़ी हुई थी। यहाँ आहरों का निर्माण जमींदार नहीं करते थे, बल्कि किसान व्यक्तिगत रूप से करते थे। मानभूम में जमीन को साफ कर खेत बनाने या पुराने खेत का सुधार करने के लिए जमीन पट्टे पर देने की एक प्रथा चलती थी जिसके मातहत पट्टेदार रैथत आहर का निर्माण करके खेत तैयार करता अथवा पुराने खेत को उपजाऊ बनाता था। इसके लिए आहर बनाने वाले किसान को या तो लगान में कुछ छूट मिलती या आहर के नीचे कोई खेत का टुकड़ा मिल जाता था। लेकिन आहर का लाभ दूसरों को भी मिलता। मानभूम का जमींदार वर्ग पलामू के जमींदारों जैसा शक्तिशाली न था।

आयोग ने जिन बड़ी सिंचाई परियोजनाओं की बात उठाई थी, वे परियोजनाएँ पलामू के लिए थीं। उन परियोजनाओं को उस जमाने के आहरों और बांधों के मुकाबले में ही बड़ा कहा जा सकता था। आज की बड़ी परियोजनाओं के मुकाबले में वह बहुत छोटी थी। पलामू के लिए जो पाँच परियोजनाएँ आयोग के सामने विचाराधीन थीं, उनमें से सबसे बड़ी सुदावन परियोजना थी जिसका जल-ग्रहण क्षेत्र (कैचमेंट एरिया) 22 वर्गमील था। इसका सिंचाई क्षेत्र (कमाण्ड एरिया) 12 हजार एकड़ था। (मुकाबला कीजिए सुवर्णरेखा परियोजना से जिसका सिंचाई क्षेत्र 1 लाख 27 हजार एकड़ क्षेत्र है) उस वक्त इस परियोजना की कुल अनुमानित लागत 27 हजार रुपए की थी जो आज के हिसाब से शायद पाँच लाख रुपया हो। (सुवर्णरेखा परियोजना की आज कुल अनुमानित लागत है एक हजार करोड़ रुपए) दूसरी नदौरा परियोजना थी जिसका कैचमेंट 8 वर्गमील, कमाण्ड एरिया 2700 एकड़ और लागत 77,400 रुपए थी। (यह अन्तिम संख्या सही नहीं है) पकराहा परियोजना का कैचमेंट 600 एकड़, कमाण्ड एरिया एक हजार एकड़ और कुल लागत 39 हजार रुपया। दवाडीह परियोजना का कैचमेंट 125 एकड़, कमाण्ड एरिया 108 एकड़ था। जाहिर है कि आज के हिसाब से इन्हें बड़ी परियोजनाएँ बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। लेकिन उस जमाने में इन्हें को बड़ी परियोजनाएँ माना गया। फिर भी, स्लैक की ही तरह खुद पलामू के उपायुक्त एफ० टी० लायल ने उत्साह के साथ इनका समर्थन नहीं किया और इनके मुकाबले अपनी ओर से उन्होंने छोटे जलाशयों का सुझाव रखा। आयोग के प्रश्न संख्या 9 के जबाब में लायल ने अपनी ओर से छोटे जलाशयों का प्रस्ताव रखते हुए आयोग को लिखा—“प्रत्येक गाँव के लिए या कुछ गाँव के समूहों के लिए कार्यक्रम बनाना चाहिए। यहां निजी रियासतों में भू-स्वामी के जरिए और सरकारी रियासतों में तहसीलदार के जरिए सिंचाई का कार्यक्रम चलाने की जरूरत है।” (पृ० 93, मिनट्स ऑफ एविडेंस, आयोग) लायल ने यहाँ सिंचाई के लिए एक गाँव या कुछ गाँवों

के समूह को आधार बनाया। सम्भवतः ये कार्यक्रम छोटे पैमाने के होते। स्थानीय भू-स्वामी या तहसीलदार के जरिए ये कार्यक्रम चलाए जाते। इसका मतलब यह निकला कि इन पर नियंत्रण स्थानीय और विकेंद्रित होता। जब आयोग ने उनसे पूछा कि क्या उनके द्वारा प्रस्तावित जलाशय योजनाएँ बहुत छोटी हैं, तो लायल ने जवाब दिया, “हाँ, वे बहुत छोटी हैं। इनमें से कोई भी जलाशय 50 से 100 बीघा खेत से अधिक रकबे की सिंचाई नहीं करेगा।” (पृ० वही)

आयोग ने उनसे जानना चाहा कि क्या वे आयोग के सामने पलामू के लिए विचाराधीन बड़ी परियोजनाएँ नहीं चाहते? इस पर लायल ने अपने छोटे जलाशयों वाले प्रस्ताव पर ही जोर दिया। नदौरा परियोजना के बारे में लायल ने बताया कि असल में उसकी लागत 10 हजार रु० है और उसका कमाण्ड एरिया 5,375 एकड़ है। बड़ी परियोजनाओं पर अपना अविश्वास जाहिर करते हुए लायल ने कहा “पलामू में बड़े कार्यक्रम बनाना संभव नहीं।” यह भी कहा कि सरकार को चाहिए कि वह निजी सिंचाई कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करें। ये निजी कार्यक्रम चाहे जमींदार बनाते या किसान, जाहिर है कि वे बड़े पैमाने के नहीं हो सकते थे।

लायल आहरों और बांधों से सिंचाई की प्रणाली से इतना प्रभावित थे कि उन्होंने आयोग को पलामू में आहरों की संख्या में हुई वृद्धि का आँकड़ा देते हुए उत्साह के साथ बतलाया कि मौजूदा आहरों का एक रजिस्टर तैयार किया गया है कि कब-कब इनकी मरम्मत हुई है और उसमें कितना खर्च बैठा। नए आहरों को बनाने की जगहें भी तय की गई हैं। नए आहरों को बनाने की उचित जगह तलाशने के लिए पूरे जिले का सर्वे कराने की जरूरत नहीं। जिलाधिकारी खुद घूम-घूम कर ये जगहें तय कर लेंगे।

(शेष अगले अंक में)

आहरों के निर्माण और नियन्त्रण की एक तीसरी प्रणाली भी थी जो सामुदायिक थी। यह प्रणाली उन जगहों पर खास तौर पर थी जहाँ आदिवासियों का सामाजिक संगठन पूरी तरह टूटा न था। इसके साथ ही लगान बन्दोबस्त संबंधी कुछ कानूनी प्रावधान भी इसमें सहायक थे। इस प्रणाली से आहरों का सबसे ज्यादा निर्माण संथाल परगना और घालभूम में हुआ। छोटानागपुर के मुकाबले संथालपरगना में सिंचाई का विकास ज्यादा हुआ। इसका कारण संथालों का सामुदायिक संगठन और कुछ लगान बन्दोबस्त के प्रावधान थे। संथालपरगना के सेटलमेंट ऑफिसर एच० मैक्फर्सन ने सिंचाई आयोग को भेजे अपने एक नोट में लिखा, “संथालपरगना की भूमि व्यवस्था इस तरह की है जिससे यहाँ के किसानों के बीच सहकारिता को अपने आप खास बढ़ावा मिलता है। यहाँ प्रशासन की इकाई गाँव है। हर एक गाँव में एक ग्राम प्रधान या मुखिया है। मुखिया गाँव का प्रतिनिधि है और गाँव के लोग सामूहिक रूप से उसी के जरिए भूस्वामी से संबंध रखते हैं। भू-स्वामी (जमींदार) को सिर्फ लगान हासिल करना होता है। गाँव के मामलों में या अन्दरूनी अर्थव्यवस्था में उसका कोई दखल नहीं होता। जिलाधिकारी ही गाँव के मुखिया को नियुक्त और बर्खास्त करने का अधिकार रखता है, जमींदार नहीं। संथालपरगना में ग्रामीण समुदाय अपने मुखिया तथा दूसरे बुजुर्गों के साथ शक्तिशाली और उत्साहपूर्ण ढंग से जीते हैं। उनके बीच आपसी सहयोग और सहकारिता का विकास असाधारण रूप से दिखाई देता है। मेरे विचार से संथालपरगना के किसानों को मिली यह सुविधाजनक स्थिति और उनका आपसी सहयोग ही वहाँ प्राकृतिक सिंचाई व्यवस्था के विकास का मुख्य कारण है। जो काम अकेले किसान के बूँत और साधनों के बाहर है, वहीं काम समुदाय के सामूहिक प्रयत्नों से सफलतापूर्वक कर लिया गया, जिसके लाभ में प्रत्येक किसान समान रूप से हिस्सेदार है। वे न सिर्फ बाँधों के निर्माण में सहयोग करते हैं, बल्कि उनकी मरम्मत और देखभाल में भी सहयोग करते हैं। पच्चीस

साल पहले रैयती हकों और कर्तव्यों का जो रेकॉर्ड बना था, जिसे अब फिर नए सिरे में जारी रखा गया है, उसके एक खास कानूनी प्रावधान के मुताबिक बाँधों, तलाबों और सिंचाई के दूसरे सभी साधनों की मरम्मत और देखभाल की जिम्मेदारों गाँव के मुखिया और रैयतों की है। इस रेकॉर्ड का दूसरा खास प्रावधान यह है कि कोई भी रैयत भू-स्वामी से कहे सुने बिना बाँध या खेती और सिंचाई के विकास से सम्बन्धित कोई भी काम कर सकता है बशर्ते उसके काम से किसी और को नुकसान न पहुँचता हो। “(पृ० 175-76, भाग II आयोग।)

इस तरह संथालपरगना में भूमि बन्दोबस्त के कानूनी प्रावधानों और संथालों के मजबूत सामाजिक संगठन के आधार पर वहाँ बाँधों और आहरों का निर्माण और उनकी देखभाल का काम सामूहिक रूप से होता था। इन बाँधों और आहरों पर नियंत्रण भी पूरे गाँव का सामूहिक रूप से था। यही बात घालभूम जिले में भी थी। जहाँ बाँधों का निर्माण रैयत के निजी उद्योग के अलावा गाँव की सामूहिक व्यवस्था-प्रधान प्रणाली पर आधारित था। यहाँ गाँव के मुखिया को प्रधान कहा जाता था। घालभूम की रियासत जिस वक्त सरकार की निगरानी में रही, कोर्ट ऑफ वार्ड के मैनेजर ने यहाँ कई बाँध बनवाए। इन बाँधों को ग्रामीणों ने अपने प्रधान के नेतृत्व में बनाया था। वे ही इनका लाभ उठाते थे और इनकी देखभाल भी करते थे। इस तरीके से उन्होंने इन बाँधों को सफलतापूर्वक कायम रखा और काफी बड़े इलाके की सिंचाई की। इस बारे में रीड ने प्रशंसा करते हुए लिखा “यह स्थानीय सहकारिता का एक दिलचस्प उदाहरण है जो मेरे विचार से प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और हो सके तो इसे और विकसित करना चाहिए” (पृ० 48) रीड के विचार से रांची और सिंहभूम जिले में स्थानीय सिंचाई की ऐसी योजनाएँ ग्रामीण को सहकारी ऋण बैंकों से कहीं अधिक आकर्षित करेगी। यह आसान भी है क्योंकि ग्रामीण अपने भ्रमदान से खुद इनका निर्माण कर लेंगे।

यह बात गौर करने लायक है कि ब्रिटिश हुकूमत के दौरान छोटानागपुर-संथालपरगना में कभी भी किसी ने बड़े पैमाने का बान्ध बनाने की सिफारिश नहीं की। सिर्फ चाईबासा के एक मिशनरी ने एक बार निजी बातचीत में छोटानागपुर के ऑफिशिएटिंग कमिशनर एफ० ए० स्लेक ने एक बड़े बान्ध की अपनी कल्पना बताई थी। कल्पना यह थी कि राँची और सिंभूम जिले की सीमा पर (बन्दगाँव के पास) ऊँचाई पर एक बड़ा जलाशय बनाया जा सकता है। यहाँ बहुत बड़ी घाटी है जिसमें पहाड़ों से उतरने वाले पानी के भरने हैं। घाटी का मुँह तंग है। यहाँ बान्ध बान्धकर नहर के जरिए नीचे के विशाल इलाके में सिंचाई हो सकती है। नहर सात मील लम्बी बनानी होगी इससे चक्रधरपुर के नजदीक के और रेलवे लाइन के उत्तरी भाग में पड़ने वाले खेतों को सींचा जा सकेगा। यह निजी प्रस्ताव एक कल्पना ही रह गया। छोटानागपुर-संथालपरगना में बड़े बान्धों को बनाने की पहल अंग्रेजी सरकार ने कभी नहीं की, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि औपनिवेशिक सरकार सिंचाई की योजनाओं को हमेशा अपने मुनाफे के दृष्टिकोण से देखती थी और बड़े बान्धों पर आनेवाले खर्च के हिसाब से यहाँ के गरीब जमींदारों और उनसे भी ज्यादा गरीब किसानों से मुनाफा वापस आ सकेगा, इसमें उसे शक था। आयोग की रिपोर्ट इस शक की पुष्टि करती है।

स्थानीय प्रशासन से जुड़े अधिकारियों ने हमेशा ही छोटे बान्धों और आहरों को बनाने का प्रस्ताव रखा। ऐसे बान्ध जो खुद गाँव के लोगों की मदद से बनाए जा सकते थे और गाँव के ही लोग उनका रख-रखाव भी कर सकते थे। ऐसे प्रस्तावों के पीछे निश्चय ही स्थानीय सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों और भौगोलिक-प्राकृतिक स्थितियों का ख्याल रहता था। सिंचाई आयोग ने भी इस दृष्टिकोण को सराहा। आयोग की रिपोर्ट में छोटानागपुर में सिंचाई के विषय पर जो परिच्छेद है, उसका पहला वाक्य यह है—“यह प्रांत (छोटानागपुर) बंगाल के मैदानी इलाके से बिल्कुल अलग चरित्र का है”। छोटानागपुर

में सिंचाई के सवाल पर सोचने की यह शुरुआत बिल्कुल सही थी (उस समय बिहार सूबा बंगाल के अन्दर था, इसलिए बंगाल का नाम लिया गया)। जो भी छोटानागपुर में सिंचाई के सवाल पर विचार करेगा, उसकी पहली नजर इस क्षेत्र की जलवायु और भौगोलिक स्थिति पर जाएगी। आज बिहार, बंगाल या उड़ीसा राज्यों के सिंचाई विभाग के इंजीनियर जब छोटानागपुर या झारखण्ड क्षेत्र के लिए सिंचाई योजनाएँ बनाते हैं (जिसे बनाने का उन्हें एकाधिकार मिला हुआ है), तो वे इस क्षेत्र की पहाड़ी, बुनियादी विशेषता की ही उपेक्षा कर देते हैं। आयोग ने सही कहा कि छोटानागपुर ऐसा प्रान्त नहीं है जहाँ कभी भी बड़ी सिंचाई योजनाएँ लागू हुई हों। जब आयोग ने एफ० ए० स्लेक से पूछा कि हमारे पास कुछ सिंचाई योजनाएँ बड़े पैमाने की भी हैं, क्या आपका उनमें विश्वास है? तो, स्लेक ने इन बड़ी योजनाओं में अपना विश्वास दृढ़तापूर्वक व्यक्त नहीं किया। अपने जवाब में उन्होंने कहा, “मैं सोचता हूँ कि उनमें से किसी एक को आजमा कर देख लेना चाहिए। हो सके तो नदीरा परियोजना को। किसी एक को आजमा कर देखा जाए कि यह विचार (बड़ी परियोजनाओं का विचार) किस हद तक सही है।” हम ऐसी कोई प्रणाली चाहते हैं जिससे सूखे के साल में नालों में बह जा रहे पानी का उपयोग आहरों को भरने में किया जा सके। लेकिन बड़े जलाशय बनाने लायक जगह शायद कहीं नहीं है।” (पृ० 228, एपेंडिक्स I आयोग)

फिर भी जब आयोग ने उन परियोजनाओं में से किसी एक के बारे में पसंदगी जाहिर करने के लिए स्लेक से कहा तो, स्लेक ने जवाब में कहा कि जिसमें खर्च सबसे कम बैठता हो, उसे वह पसन्द कर सकते हैं। आयोग ने पूछा “क्या आपके विचार से इस जिले में मुख्य काम रैयतों के जरिए आहरों की संख्या में वृद्धि करना है?” तो स्लेक ने स्पष्ट ढंग से कहा—हां।

आयोग ने जिन बड़ी सिंचाई परियोजनाओं की बात उठाई थी, वे परियोजनाएँ पलामू के लिए थीं। उन परियोजनाओं को उस जमाने के आहरों और बांधों के मुकाबले में ही बड़ा कहा जा सकता था। आज की बड़ी परियोजनाओं के मुकाबले में वह बहुत छोटी थी। पलामू के लिए जो पांच परियोजनाएँ आयोग के सामने विचाराधीन थीं, उनमें से सबसे बड़ी सुदावन परियोजना थी जिसका जल-ग्रहण क्षेत्र (कैचमेंट एरिया) 22 वर्गमील था। इसका सिंचाई क्षेत्र (कमांड एरिया) 12 हजार एकड़ था। (मुकाबला कीजिए सुवर्णरेखा परियोजना से जिसका सिंचाई क्षेत्र 1 लाख 27 हजार एकड़ क्षेत्र है) उस वक्त इस परियोजना की कुल अनुमानित लागत 27 हजार रुपए की थी जो आज के हिसाब से शायद पाँच लाख रुपया हो। (सुवर्णरेखा परियोजना की आज कुल अनुमानित लागत है एक हजार करोड़ रुपए) दूसरी नदीरा परियोजना थी जिसका कैचमेंट 8 वर्गमील, कमांड एरिया 2700 एकड़ और लागत 77,400 रुपए थी। (यह अन्तिम संख्या सही नहीं है) पकराहा परियोजना का कैचमेंट 600 एकड़, कमांड एरिया एक हजार एकड़ और कुल लागत 39 हजार रुपया। दवाडीह परियोजना का कैचमेंट 125 एकड़, कमांड एरिया 108 एकड़ था। जाहिर है कि आज के हिसाब से इन्हें बड़ी परियोजनाएँ बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। लेकिन उस जमाने में इन्हें को बड़ी परियोजनाएँ माना गया। फिर भी, स्लैक की ही तरह खुद पलामू के उपायुक्त एफ० टी० लायल ने उत्साह के साथ इनका समर्थन नहीं किया और इनके मुकाबले अपनी ओर से उन्होंने छोटे जलाशयों का सुझाव रखा। आयोग के प्रश्न संख्या 9 के जवाब में लायल ने अपनी ओर से छोटे जलाशयों का प्रस्ताव रखते हुए आयोग को लिखा—“प्रत्येक गाँव के लिए या कुछ गाँव के समूहों के लिए कार्यक्रम बनाना चाहिए। यहां निजी रियासतों में भू-स्वामी के जरिए और सरकारी रियासतों में तहसीलदार के जरिए सिंचाई का कार्यक्रम चलाने की जरूरत है।” (पृ० 93, मिनट्स ऑफ एविडेंस, आयोग) लायल ने यहाँ सिंचाई के लिए एक गाँव या कुछ गाँवों

के समूह को आधार बनाया। सम्भवतः ये कार्यक्रम छोटे पैमाने के होते। स्थानीय भू-स्वामी या तहसीलदार के जरिए ये कार्यक्रम चलाए जाते। इसका मतलब यह निकला कि इन पर नियंत्रण स्थानीय और विकेंद्रित होता। जब आयोग ने उनसे पूछा कि क्या उनके द्वारा प्रस्तावित जलाशय योजनाएँ बहुत छोटी हैं, तो लायल ने जवाब दिया, “हाँ, वे बहुत छोटी हैं। इनमें से कोई भी जलाशय 50 से 100 बीघा खेत से अधिक रकबे की सिंचाई नहीं करेगा।” (पृ० वही)

आयोग ने उनसे जानना चाहा कि क्या वे आयोग के सामने पलामू के लिए विचाराधीन बड़ी परियोजनाएँ नहीं चाहते? इस पर लायल ने अपने छोटे जलाशयों वाले प्रस्ताव पर ही जोर दिया। नदीरा परियोजना के बारे में लायल ने बताया कि असल में उसकी लागत 10 हजार रु० है और उसका कमांड एरिया 5,375 एकड़ है। बड़ी परियोजनाओं पर अपना अविश्वास जाहिर करते हुए लायल ने कहा “पलामू में बड़े कार्यक्रम बनाना संभव नहीं।” यह भी कहा कि सरकार को चाहिए कि वह निजी सिंचाई कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करें। ये निजी कार्यक्रम चाहे जमींदार बनाते या किसान, जाहिर है कि वे बड़े पैमाने के नहीं हो सकते थे।

लायल आहरों और बान्धों से सिंचाई की प्रणाली से इतना प्रभावित थे कि उन्होंने आयोग को पलामू में आहरों की संख्या में हुई वृद्धि का आँकड़ा देते हुए उत्साह के साथ बतलाया कि मौजूदा आहरों का एक रजिस्टर तैयार किया गया है कि कब-कब इनकी मरम्मत हुई है और उसमें कितना खर्च बैठा। नए आहरों को बनाने की जगहें भी तय की गई हैं। नए आहरों को बनाने की उचित जगह तलाशने के लिए पूरे जिले का सर्वे कराने की जरूरत नहीं। जिलाधिकारी खुद घूम-घूम कर ये जगहें तय कर लेंगे।

(शेष अगले अंक में)

डाइन प्रथा—अंधविश्वास या स्त्रियों पर दमन ?

(लेखक चन्दनकियारी महाविद्यालय में व्याख्याता हैं ।)

प्रो० साधुचरण माहातो

पूरे भारखण्ड में ऐसा गांव मिलना बहुत ही मुश्किल है जहाँ डाइन का कोई मामला न हो। यदि मामले को गहराई में हम सोचेंगे तो लगता है कि डाइन प्रथा न तो किसी एक समाज विशेष की स्थायी समस्या है और न ही अनैतिहासिक। बदलते हुए सामाजिक ढाँचों के साथ-साथ डाइन के बारे में सामाजिक विचार भी बदलते रहते हैं।

500 साल पहले यूरोप में 'डाइन' का भारी प्रकोप था लेकिन आज नहीं है। 30-40 साल पहले अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में भारत के बड़े शहरों में डाइन की खबरें पढ़ने को मिलती थीं। लेकिन आज ये डाइन न जाने कैसे गायब हो गए हैं! क्या शिक्षा, विजली या मशीनीकरण के कारण डाइन या भूत-प्रेत अपनी मनसुन्द जगह छोड़ने के लिए मजबूर होकर शिक्षा व चिकित्सा से वंचित, अज्ञानता के अंधेरे में लिपटे भारखण्ड में आ बैठे? शायद यह सच हो! अब शहरों में भूत-प्रेत या डाइन का मामला घटता जा रहा है लेकिन गांवों में क्यों का क्यों है। और तमाम भारखण्ड में भी। ऐसा क्यों? इसका एक ही जवाब है कि भारखण्ड सिर्फ खड़गपुर, जमशेदपुर, राँची, धनबाद, बोकारो या राऊरकेला जैसे चंद बड़े शहरों में ही सीमित नहीं है, बल्कि अंधविश्वासों से भरे सैकड़ों मीलों में फैला ग्रामीण इलाका है।

भारखण्ड में विभिन्न जातियों के सामाजिक-धार्मिक विचार अलग-अलग रहें हैं तथा उनपर आधारित डाइन प्रथा पर विश्वास भी। शायद इसीलिए डाइन का मामला हल करने के तौर-तरीके भी भारखण्ड की विभिन्न जातियों

में अलग-अलग होते हैं। उदाहरणार्थ, सिंहभूम जिले के 'हो' आदिवासी किसी को डाइन समझकर उसकी हत्या कर देते हैं लेकिन धनबाद जिले के कुमी सम्प्रदाय में डाइन या उसके परिवार को हर तरह से परेशान किया या आर्थिक दंड दिया जाता है। कहने का मतलब है कि डाइन के मामले में समान तौर-तरीके से विश्लेषण करना मुश्किल है।

इसलिए किसी इलाके में घटित खास घटना के आधार पर एक निरपेक्ष विश्लेषण सोमित ढंग में होने के बावजूद महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में धनबाद जिले के खालबाद गांव की डाइन की घटना भारखण्ड की डाइन सम्बन्धित मामलों में कुछ रोशनी डाल सकती है।

खालबाद में डाइन के मामले

खालबाद धनबाद जिले के चन्दनकियारी प्रखण्ड में है। इस गांव में कुमी महतो और संथाल, दो प्रमुख जातियाँ रही हैं। ग्वाला जाति के भी एक-दो परिवार हैं। इस छोटे से गांव की आबादी 500 के आस-पास होगी जिसमें 40 महतो परिवार हैं तथा संथालों के 50 परिवार।

गांव के लोग मुख्यतः खेती पर निर्भर हैं। कुछ लोग धनबाद की कोलियरियों में नौकरी भी करते हैं तथा वहीं रहते भी हैं। सिर्फ सप्ताह में छुट्टी के दिन गांव आते हैं। गांव की कुछ औरतें प्रतिदिन आठ-दस किलोमीटर पैदल चलकर नजदीक के कोलियरी डिपो से कोयला चुनकर लाती हैं और उसे बेचकर परिवार चलाने में मदद करती हैं।

एक दशक पहले खालबाद के ग्रामीणों ने ऊँची जात के जमीन्दारों और गुण्डों के खिलाफ चलाये गए आन्दोलन

में काफी सहयोग दिया था। गाँव के अधिकतर लोग भारखण्ड आन्दोलन और लाल भण्डे के समर्थक हैं। राजनीति के बारे में दिलचस्पी रखते हैं। फिर भी गाँव में किसी के बीमार होने पर ओम्हा को ही बुलाया जाता है। गाँव में मैट्रिक एवं इन्टरमीडिएट तक पढ़े हुए चन्द युवक हैं, लेकिन उनका भी ओम्हा पर विश्वास है। उसका यह मतलब नहीं कि गाँव के लोग डाक्टररी इलाज नहीं कराते हैं। वे लोग अक्सर डाक्टर के पास भी जाते हैं और उन्हें काफी मानते भी हैं।

पिछले वर्ष इसी गाँव की 18-19 वर्षीय युवती मधु, जिसकी शादी 6 महीने पूर्व हुई थी, अपनी माँ और पिताजी से मिलने खालवादा आयी हुई थी। गाँव आने के कुछ दिन बाद मधु को अजीब किस्म की बीमारी हो गई। उसका स्वास्थ्य तो ठीक ही था लेकिन चलते वक्त वह कुछ दूरी तक दौड़ती थी, मानो कोई उसका पीछा कर रहा हो। चलते-चलते वह अचानक गिर जाती और बेहोशी-सी छा जाती थी। लेकिन थोड़ी देर बाद ही वह अपने आप स्वाभाविक हो जाती थी।

डाइन के बारे में गाँव की औरतें क्या सोचती हैं ?

खालवादा में जब डाइन का मामला चल रहा था, उस समय कलकत्ता से कुसंस्कार विरोधी मंच 'उत्स मानुष' की सक्रिय कार्यकर्ता पूरबी घोष उस गाँव में आई थी। गाँव या शहर जहाँ भी हो, महिलायें जल्द ही आपस में घुल-मिल जाती हैं और वे जो बातें मर्दों से छुपाती हैं उन पर खुले दिल से आपस में चर्चा करती हैं। डाइन के मामले में पूरबी ने गाँव की महिलाओं से पूछा 'गाँव में तो इतनी सारी औरतें हैं, फिर भी कैसे कुछ विशेष औरतों पर ही डाइन होने का आरोप लगाया जाता है ? और वह विशेषता क्या है ?' उसे जवाब मिला—

डाइन-विद्या जरूर कुछ होता होगा। नहीं तो इतने सालों से यह विश्वास कैसे अब तक टिका है ? लेकिन सोचने की बात यह भी है कि क्यों सिर्फ औरतें ही डाइन होती हैं ? डाइन को जो भगा सकता है, यानि ओम्हा, वह क्यों नहीं हो सकता ? कभी-कभी हम सोचती हैं कि डाइन का मामला अपने परिवार के प्रतिबिम्ब जैसा है। जो औरत पति की बात नहीं मानती है, भले ही उसकी बात मानने लायक नहीं हो, तो भी उसे 'रंडी' 'वेश्या' की गाली दी जाती है, मार-पीट किया जाता है और इस मामले में उस औरत को दबाव में रखने के लिए समाज के सारे मर्द एक साथ हो जाते हैं। रघु की माँ पर डाइन होने का आरोप लगाना कितना सही और कितना झूठ था वह हमें मालूम नहीं लेकिन वह औरत किसी मर्द की परवाह नहीं करती समाज से डरती नहीं है। हो सकता है कि उसकी कुछ 'विशेष क्षमता' है।

लेकिन रघु की माँ के अलावा इस इलाके में डाइन के बारे में कुछ धारणायें हैं। जैसे कि अगर कोई औरत शाम के वक्त शौच अथवा जड़ी-बूटी चुनने के लिए जंगल-भाड़ी में जायेगी या अपने आप से बात करती दिखाई देगी तो उस पर डाइन होने का सन्देह किया जाता है। ऐसी स्थिति में अगर गाँव में बीमारी फैली, तो उस औरत पर डाइन होने का आरोप आ जाता है। अभी स्थिति ऐसी है कि अगर किसी को भी कोई अनजान बीमारी ही गई तो डाक्टर के पास जाने के पहले गाँववाले ओम्हा के पास जाते हैं और डाइन को ही उस बीमारी का कारण समझते हैं। गाँव के पुरुष लोग ही मिलकर यह तय करते हैं कि डाइन कौन है। ओम्हा को बुलाया जाता है। ओम्हा भाड़-फूंक करता है। दो या तीन हजार रु० जुमाना लिया जाता है जिसका आधा हिस्सा ओम्हा की जेब में जाता है, बाकी हिस्सा गाँव के जाने-माने आदमियों के पास रह जाता है—मुर्गा और दारु के लिए।

मधु के इस 'अजीब' आचरण को लेकर गाँव में चर्चा शुरू हुई। सबसे पहले रघु महतो के चाचा राम महतो ने यह कहना शुरू किया कि रघु की माँ ने मधु का बुरी नजर लगायी है और वह डाइन है। यह बात गाँव में फैलने लगी। ओम्हा को बुलाया गया। उसने भी राम महतो की बात को सही मानते हुए दुहरा दिया कि मधु को किसी डाइन ने पकड़ा है। ओम्हा ने मिर्चों का धुआँ देकर भाड़-फूँक किया। मधु दौड़ने लगी और रास्ते में गिर पड़ी। दुर्भाग्य से मधु जहाँ गिर पड़ी वहाँ से रघु का मकान पास ही में था। ओम्हा ने बता दिया कि रघु की माँ ही डाइन है। यहाँ गौर करने की बात यह है कि

रघु का घर और मधु का मकान आस-पास है और गाँव के बीच से एक ही रास्ता गुजरता है।

मधु जहाँ गिर पड़ी थी उसके दोनों तरफ बहुत करीब ही दूसरों के भी घर हैं, लेकिन ओम्हा को बिल्कुल संदेह नहीं था कि रघु की माँ ही डाइन है। इसके बाद गाँव की पंचायत हुई। इस बैठक में रघु को भी बुलाया गया। फैसला लिया कि रघु की माँ पर सत्तार प्रेत को उतारने के लिए रघु को कम से कम 2000 रु० देना होगा, लेकिन रघु ने इस मामले में एक भी पैसा देने से इन्कार कर दिया।

रघु की जुबान से

बचपन से ही मैं डाइन के बारे में सुनता आ रहा हूँ। गाँव की कुछ औरतों को, 'डाइन' के नाम पर सजा देने की प्रथा को मैंने देखा है। इस क्रूर दंड को देखकर मुझे बहुत खराब लगता था। परन्तु डाइन के बारे में मेरा विश्वास भी था। इस तरह विश्वास और अविश्वास के तनाव में मैं बड़ा हुआ। लेकिन अचानक एक घटना ने मेरी आँखें खोल दीं।

लगभग 5 वर्ष पहले की बात है। उस समय मैं नौकरी कर रहा था। महीने में एक बार घर आता था। एक दिन जब मैं घर लौटा तो मुझे देखते ही मेरी माँ और पत्नी रोने लगीं। मैं घबरा गया। पूछने पर मालूम हुआ कि हमारे परिवार को गाँव से 'बाहर' कर दिया गया है—इस आरोप पर कि मेरी माँ डाइन है। गाँव के जाने-माने व्यक्तियों ने यह फारमान जारी किया है कि अगर कोई भी हम लोगों से बात करेगा तो उसे 500 रु० जुरमाना देना पड़ेगा। यह बात सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ। घटना की पूरी जानकारी लेने के लिए मैं गाँव के एक प्रभावशाली व्यक्ति से मिला। उन्होंने बताया कि एक महीने के अन्दर एक गाँववाले की बीबी और उसकी बेटी की मौत हो गई तो वह घबरा कर गाँव के प्रमुख लोगों से मिला। सोखा यानि ओम्हा को बुलाया गया। भाड़-फूँक कर के सोखा ने बताया कि उसके घर में दूसरे गाँव की एक डाइन घुस गयी है। उसी समय बुधन महतो ने, जिसकी गाँव में धाक चलती है, सोखा की बात काटते हुए बताया कि डाइन तो गाँव की ही है—रघु की माँ। सोखा गुस्से में आ गया और बुधन को एक थप्पड़ मार कर सभा से बाहर कर दिया। उसके बाद बुधन गाँववालों को दूसरे गाँव के एक बड़े सोखा के पास ले गया। उस सोखा ने जन्त-मन्तर करके बताया कि मेरी माँ ही डाइन है। उस समय मैं भी मौजूद था। जब मैंने पूछा कि इसके लिए क्या करना होगा तो हमें बताया कि एक हजार रु० दंड देना होगा और मेरी माँ को सोखा के पास लाना पड़ेगा। मजबूर होकर हमने इस दंड को मान लिया। मेरे पास पैसे नहीं थे। बोकारो से एक हजार रु० कर्ज लेकर उन्हें दे दिया। गाँव के बड़े आदमी मेरी माँ को सोखा के पास ले गए। सोखा ने जन्त-मन्तर किया, फूँक छिड़कने के बाद अपना पेशाब और पाखाना मेरी माँ को जबरदस्ती से खिलाया गया। इसके बाद कुछ हिसाब-किताब करके बताया कि "डाइन अभी चली गयी है।" इसके पश्चात् मेरी आँखों

के सामने ही एक हजार रु० का बँटवारा हुआ। सोखा ने आधा लिया और बाकी हिस्सा गाँववालों ने। वे लोग मेरे कर्ज के पैसे को दारु और मांस में उड़ा दिये।

उस दिन की घटना को भुलाना मेरे लिए बहुत मुश्किल है। लेकिन मैं अकेला क्या कर सकता था? उसके बाद इस तरह की दो और घटनाएँ हुईं। उस समय मैं बोकारो में था। पता चला कि बिन्दी की माँ डाइन बन गई है। बिन्दी ही अपनी माँ का एक मात्र सहारा थी। उनकी थोड़ी-सी जमीन थी। जिस समय बिन्दी की माँ पर डाइन होने का आरोप लगाया गया था उस समय धान पकने वाला था। गाँव वालों ने सोखा के साथ मिलकर डाइन भगाने लिए बिन्दी से दो हजार रु० माँगा। उनके पास पैसे नहीं थे। उसके बदले में पका धान का खेत दंड के रूप में उनके हाथ से चला गया।

दूसरी घटना उसके दो साल बाद की है। उस समय गाँव के जाने-माने लोगों का गुट बंशी की माँ को डाइन बताया। लेकिन बंशी के चार भाई डंडा लेकर सामने खड़े हो गए। एक दिन दोपहर के वक्त गाँववाले बंशी की माँ को मारने के लिए उसके घर को घेर लिये तो बंशी के चारों भाई डंडा लेकर भिड़ गए और तब गाँववाले जान बचाने के लिए भाग गए।

बाद में गाँव की पंचायत बुलायी गई। बंशी के परिवार से आर्थिक दंड माँगा गया और धमकी भी दी गयी कि अन्यथा उनको समाज से बाहर कर दिया जायेगा। तब वे लोग बोले कि अगर जरूरी हुआ तो वे लोग खुद अपनी माँ को सोखा के पास ले जायेंगे लेकिन गाँववालों को एक कौड़ी भी नहीं देंगे इसके बाद गाँववाले पूरी तरह शांत हो गए। इस घटना ने मेरी आंखों पर बंधी अंधविश्वास की पट्टी को खोल दिया, और मैंने समझा कि अगर हिम्मत से कोई लड़े तो डाइन का मामला खत्म हो सकता है। लेकिन मेरा और हमारे समाज का दुर्भाग्य है कि फिर से मेरी माँ को 'डाइन' घोषित करने की यह घटना घटी है।

यहाँ तक घटना के विवरण के बाद थोड़ा रुक कर इस मामले से जुड़े कुछ तथ्यों पर गौर किया जाये।

1. मधु की शादी हाल ही में हुई थी और अपने गाँव आने के बाद ही उसे 'डाइन' ने पकड़ा।

2. राम महतो यानि रघु महतो का चाचा गाँव का पहला आदमी था जो रघु की माँ को डाइन कहकर प्रचार शुरू किया था।

3. रघु महतो—जिसकी माँ को ओम्मा ने डाइन बताया और प्रेत से छुटकारा दिलाने के लिए ओम्मा ने रघु के परिवार से कुछ हजार रुपयों की माँग की। इस माँग के प्रति गाँव वालों ने कोई विरोध नहीं किया। इस सन्दर्भ में कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह सवाल जरूर पूछ सकता है कि रघु और उसके चाचा राम महतो के आपसी सम्बन्ध कैसे थे? खालबाद के किसी भी व्यक्ति से यही

जवाब मिलेगा कि घर के आहूते की दीवार को लेकर रघु और उसके चाचा के बीच बहुत वर्षों से झगड़ा चल रहा है।

रघु मैट्रिक तक पढ़ा-लिखा युवक है। उसने कुछ साल तक एक कारखाने में मजदूरी भी की थी। इसकी जमीन बहुत कम है, तथा बहुत मुश्किल से साल-भर का गुजारा चलता है। और उसकी माँ? गाँव के सभी मर्द कहते हैं कि "वह औरत किसी का 'इज्जत' नहीं देती है, अपने को बहुत 'आजाद' समझती है।"

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आगे देखा जाये कि खालबाद के डाइन के मामले का क्या हुआ?

रघु ने जब प्रेत उतारने का खर्चा देने से साफ इन्कार कर दिया तो उससे एक सामाजिक समस्या पैदा हुई।

गाँव के कुछ प्रभावशाली लोगों, जिनके नियंत्रण में गाँव चलता था, के लिए यह एक बड़ा धक्का था। उनकी नजर से रघु का यह आचरण गाँव के सामाजिक शासन के प्रति एक चुनौती थी। इसके साथ ही वे यह भी सोच नहीं पा रहे थे कि इतनी हिम्मत रघु को कहाँ से मिली? रघु को फिर से सोचने के लिए दो दिन का समय दिया गया और उसे बताया गया कि अगर समाज के विचार को वह नहीं मानेगा तो उसके परिवार का सामाजिक बहिष्कार किया जायेगा। इस बीच रघु को समझाने बुझाने के लिए तथा इस मामले में समझौता कराने के लिए ग्राम पंचायत के मुखिया को भी बुलाया गया।

संयोग से उसी समय गाँव के नजदीक एक महाविद्यालय में मार्क्सवादी मजदूर आन्दोलन के एक कार्यकर्ता आये हुए थे। खालबाद गाँव में चल रहे डाइन का मामला जब उन्हें सुनाई पड़ा तो वे गाँव के लोगों एवं मुखिया के साथ बात करके स्पष्ट रूप में बता दिया कि इस मामले में सामाजिक बहिष्कार गैर-कानूनी है और यदि ऐसा किया गया तो उसका नतीजा बहुत खराब होगा। उन्होंने डाइन जैसी प्रथाओं के बारे में चर्चा की और ऐसे कुसंस्कारों को छोड़ने की सलाह दी। कानून की बात से गाँव के जिन लोगों ने डाइन के मामले में ज्यादा उत्साह दिखाया था, वे डर गये और इस तरह रघु की माँ का मामला भी खत्म हो गया।

इस घटना से उमर आयी बातें

जब इस घटना को लेकर गाँव के लोगों से चर्चा की गई तब कुछ बातें स्पष्ट रूप में सामने आयीं। एक तो रघु की माँ को लेकर उठा डाइन का मामला गाँव के इतिहास में पहला नहीं था। पिछले पाँच वर्षों में चार बार डाइन के मामले हुए थे, उनमें जिन औरतों पर डाइन होने का आरोप था उनकी उम्र चालोस से साठ साल के बीच थी।

दूसरी बात यह कि जिनकी बीमारी को लेकर ओम्हा ने डाइन का मामला उठाया था वे सभी कम उम्र की महिलाएँ थीं। 16-20 तक की उम्र की इन युवतियों

की शादी ज्यादा से ज्यादा एक साल पहले हुई थी, और मैके आने के बाद 'बीमारी' हो गयी थीं। उनकी बीमारी का लक्षण देखकर लगता है कि वे हिस्टीरिया से पीड़ित थीं।

इन सभी मामलों में गाँव के कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों का गुट प्रेत या डाइन का सवाल खड़ा करके ओम्हा के साथ मिलकर सजा देने के बारे में फौसला लिया करता था। डाइन आरोपित परिवार को एक हजार से दो हजार रु० तक का खर्चा देना पड़ता है। ये सभी परिवार बहुत ही गरीब थे।

डाइन के मामले में कुछ प्रश्न

खालबाद की घटना को देखते हुए डाइन के मामलों के बारे में कुछ प्रश्न उभर कर आते हैं। पहला यह कि धनवाद के इस इलाके में डाइन होने वाले व्यक्ति को जान से मारा नहीं जाता है। क्या इसका मतलब यह है कि आज के जमाने में डाइन के प्रति विचारों में कोई अन्तर या बदलाव आया है? वर्णित घटना में यह देखा गया कि डाइन औरत का भूत उतार देने से वह डाइन नहीं रहती हैं। इसका मतलब यह है कि डाइन प्रथा के पीछे यह धारणा है कि औरत खुद डाइन नहीं होती, बल्कि उस पर डाइन सवार होती है, जिसे उतारा जा सकता है। अभी भी स्त्री को ही डाइन घोषित किया जाता है और ये सभी औरतें गरीब परिवार की होने के बावजूद लाचार व्यक्ति जैसा व्यवहार नहीं करती हैं। समाज का नियंत्रण करने वाले व्यक्तियों की नजर से शायद यह लगता होगा कि ये औरतें समाज के नीति नियमों को नकार रही हैं। समाज पर पुरुषों का नियंत्रण बरकरार रखने के लिए ऐसी औरतों को डाइन होने का आरोप लगा कर उनको और उनके परिवारों को दण्डित किया जाता है। परिवार को भी इसलिए दोषी ठहराया जाता है कि परिवार स्त्री नियंत्रण की सबसे महत्वपूर्ण संस्था है और परिवार ही औरतों को नियंत्रित रखने के लिए जिम्मेवार है।

क्या हम डाइन के मामले को सिर्फ अन्धविश्वास का एक रूप कहकर छोड़ सकते हैं? नहीं, ऐसा करना गलत

होगा। यह अन्धविश्वास जरूर है लेकिन यह अन्धविश्वास उतना अन्धा नहीं है। यह अन्धविश्वास औरतों पर पुरुषों का नियंत्रण कायम रखने के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। स्त्रियों के बीच आतंक फैलाकर उन्हें

गुलाम बनाये रखने का एक तरीका है। शिक्षित समाज में भी स्त्री अगर समाज नियंत्रण के नियमों का उल्लंघन करती है तो उस पर और उसके परिवार पर ऐसे ही अन्ध जुल्म किया जाता है जैसे कि डाइन के मामलों में किया जाता है।



कोयला खदानों में महिला मजदूरों की हालत

—लिनड्से बार्न्स

लिनड्से बार्न्स धनबाद जिले के कोयला खदान मजदूर आन्दोलन, खासकर इसमें महिला मजदूरों की भूमिका तथा उनकी समस्याओं के बारे में शोधकार्य कर रही हैं। उसी शोधकार्य के दौरान किया गया अध्ययन है प्रस्तुत लेख।

भारत में कोयला खदान उद्योग एक राष्ट्रीयकृत उद्योग है और उसमें ज्यादातर महिला मजदूर स्थायी कर्मचारी हैं। हालाँकि खदान उद्योग में काम करनेवाली महिलाओं की नौकरी की सुरक्षा सबसे अधिक है, फिर भी आश्चर्य की

बात है कि कोयला उद्योग में उनकी भूमिका को भारी खतरा है। महिला मजदूरों का अनुपात घटता जा रहा है, और अगर कोल इंडिया लिमिटेड की नीतियाँ ऐसी ही रहें, तो इस उद्योग से उनका नाम-ओ-निशान मिट

जायेगा। इस स्थिति को समझने के लिए जरूरी है कि हम इस उद्योग में हुए बदलावों और इसके अन्दर महिलाओं की बदलती भूमिका पर नजर डालें।

राष्ट्रीयकरण के वक्त कोयला खदान उद्योग में महिलाओं की स्थिति

महिलाओं के भूमिगत काम करने पर प्रतिबंध

कोयला खदानों में महिला मजदूरों का अनुपात कई दशकों से कम होता रहा है। 1920-30 के दशक के अन्त तक महिलाएँ भूमिगत कोयला खदानों में कोयला गाड़ियों भरने का काम भी करती थीं। कोयला उनके परिवार के पुरुष काटते थे, आम तौर पर उनके पति। 1919 में भारतीय कोयला खदानों में 11,5685 पुरुष और 71,322 महिलाएँ काम करती थीं—यानी, महिलाएँ कुल मजदूरों की संख्या का 38 प्रतिशत थीं।

यह पति-पत्नी टीम इतनी अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी कि उद्योग को डर था कि यदि महिलाओं के भूमिगत काम करने पर रोक लगाया जाए तो पुरुष खदानों के अन्दर काम करने से इन्कार कर देंगे। 'कोयला ढोना' महिलाओं का काम समझा जाता था और कई पुरुष यह काम करने से इन्कार करते थे। और तीसरी बात यह भी थी कि ऐसी रोक लगने का मतलब यह होता कि दो पुरुष मजदूरों को अलग-अलग दो वेतन देने पड़ते, जबकि पहले मिलाकर एक वेतन दिया जाता था—साधारणतः पुरुष को। इससे खदान मजदूर के परिवार की कमाई भी घटी। इसके बावजूद 1929 में यह रोक लगा दी गयी और कोयला उद्योग को सभी भूमिगत महिला मजदूरों को हटा देने के लिए दस वर्ष का समय दिया गया। सामाजिक कार्यकर्ताओं की राय थी कि महिला मजदूरों का भूमिगत काम करना बर्बाद, असम्भव, और व्यभिचार-प्रेरक था। उस

समय महिला मजदूरों से उनकी राय नहीं माँगी गयी थी, हालाँकि यह निर्णय उनके तथाकथित हितों को ध्यान में रखकर लिया गया था। प्राप्त सबूतों से यह लगता है कि महिला मजदूर उनकी रक्षा के लिए बनाये गये इस कानून के पक्ष में नहीं थीं। खदानों में उन दिनों गर्मी कम रहती थी और मौसम भी ऊपर की तुलना में ठीक था। भूमिगत काम करके ज्यादा पैसे कमाये जा सकते थे और महिलाएँ अपने घर के मर्दों के साथ काम कर सकती थीं। व्यभिचार का दावा मध्यवर्गीय कल्पना की उपज है। आर्शकाओं के बावजूद पुरुषों ने कोयला ढोने से इन्कार नहीं किया। सन् 1939 तक भूमिगत काम से सारी महिला मजदूर हटा दी गयी थीं, और परिवार की टीम टूट चुकी थी। यह महिलाओं की 'सुरक्षा' के नाम पर बनाया गया पहला कानून था, जिसका दुर्भाग्यवश उनके खिलाफ इस्तेमाल हुआ—इस उद्योग से उनको हटाने में।

फिर 1942 से 1947 तक महिलाओं को कोयला खदानों में भूमिगत काम दिया गया। सरकार ने उनके भूमिगत काम करने पर रोक हटा दी क्योंकि खदानों में श्रमिकों की कमी महसूस की जा रही थी। दूसरा विश्वयुद्ध जारी था और कई पुरुष मजदूरों को दूसरे क्षेत्रों में ज्यादा फायदेमंद नौकरियाँ मिलीं, जैसे हवाई पट्टियाँ बनाने में। और युद्ध के लिए ज्यादा कोयले की जरूरत थी। कोयला खदानों में महिला मजदूरों की संख्या 1941 से 1946 तक 28,745 से बढ़कर 77,784 हो गयी और कुल मजदूरों की संख्या में उनका अनुपात 13.2 प्रतिशत से बढ़कर 24 प्रतिशत हो गया। यह वृद्धि जमीन के ऊपर और जमीन के नीचे, दोनों प्रकार के कार्यों में हुई। उदाहरण के तौर पर, झरिया कोयला-क्षेत्र (बिहार राज्य के धनबाद जिले में अवस्थित यह क्षेत्र भारत के अन्य कोयला क्षेत्रों से अधिक प्रमुख है और उन दिनों और भी प्रमुख था।) में 1945 में 23,008 महिलाएँ जमीन के ऊपर और 11,112 जमीन के नीचे काम करती थीं। सन् 1941 में, जब महिलाओं को सिर्फ जमीन के ऊपर ही काम करने दिया जाता था, कुल महिला मजदूरों की संख्या 12,009 थी।

लेकिन विश्व-युद्ध खत्म होते ही सरकार को अपनी 'मानव-तावादी' और पितृसत्तात्मक नीति अपनाने का फिर से मौका मिला और उसने फिर एक बार महिलाओं के जमीन के नीचे काम करने पर रोक लगा दी। जो महिलाएँ खदानों में नौकरियों से वंचित की गयीं, उन्हें जमीन के ऊपर काम का भी मौका नहीं दिया गया, क्योंकि 1945 में विश्वयुद्ध खतम होने के साथ उत्पादन भी घट गया।

ठेकेदारी प्रथा और मजदूरों की संख्या

कोयला-खानों के प्रबन्धन ने लोडिंग का काम ठेकेदारों से करवाना ज्यादा कुशल एवं सस्ता पाया। इसका नतीजा यह हुआ कि ज्यादातर महिलाएँ सीधे प्रबन्धन द्वारा नियुक्त नहीं की जाती थीं। कुशल और टाइम-रेट वाले मजदूरों को स्थायी नौकरियाँ मिलती थीं और ऐसे मजदूर अधिकतर पुरुष ही हुआ करते थे। सफाई मजदूरों और क्रेश की नर्सों जैसे कार्यों में टाइम-रेट वाली महिला मजदूरों की बहाली होती थी और अन्यथा पीस-रेट के कामों में कुछ महिला मजदूरों की सीधी नियुक्ति होती थी। 1945 में यह अन्दाजा लगाया गया कि भरिया कोयला क्षेत्र में 35.8% मजदूर, रानीगंज कोयला क्षेत्र में 45.47% मजदूर, और बोकारो एवं गिरीडीह कोयला क्षेत्रों में 83.3% मजदूरों की नियुक्ति ठेकेदारों द्वारा हुई थी। अक्सर इन मजदूरों के नाम प्रबन्धन के नियोजन रजिस्ट्रों में शामिल नहीं करते थे और यह हो सकता है कि सरकारी आंकड़ों में उनकी गिनती न हुई हो। ऐसे मजदूरों में महिलाएँ अधिक रही होंगी।

महिला मजदूरों की मजदूरी

मजदूरों (खासकर महिला मजदूरों) को न केवल ठेकेदारों द्वारा नियुक्त किया जाता था, बल्कि कोयला मजदूरों की मजदूरी भी बहुत ही कम थी और काम के हालात भयानक थे। 1945 में किए गए एक सर्वेक्षण में औद्योगिक मजदूरों में कोयला-खान मजदूरों

की मजदूरी सबसे कम थी। एक परिवार की औसत मासिक आमदनी सिर्फ 52 रु० थी, जबकि नजदीक ही जमशेदपुर में परिवार की औसत आय 92 रु० थी, जहाँ प्रति परिवार कमानेवालों की संख्या कम थी, क्योंकि महिलाओं के काम करने की सम्भावना कम थी।

1950 के दशक में महिला मजदूरों को दी जाने-वाली मजदूरी में कुछ बदलाव आया। हालाँकि छोटी एवं मध्यम कोयला खानों में कानूनों को ज्यादातर नजरअन्दाज किया जाता था, 1956 में महिलाओं एवं पुरुषों को समान वेतन की अवधारणा को स्वीकार किया गया।

महिलाओं के काम और मशीनीकरण

सन् 1946 में कोयला-खानों में महिला-मजदूरों को सबसे अधिक नौकरियाँ मिली थीं और उसके बाद महिला मजदूरों का अनुपात लगातार घटता गया है। उनका काम ज्यादातर अकुशल किस्म का ही हुआ करता था, खास करके कोयला ढोना, और लोडिंग करना विशेषकर रेलवे-साइडिंगों में वैगनों की लोडिंग या खदान के सतह पर से ओवर-बर्डन कहे गए मिट्टी-पत्थर हटाना या कोयला बाहर मेजने के पहले उसमें से कंकड़-पत्थर एवं अन्य कचड़ा हटाना (शेल पिकिंग)। अन्य महिलाएँ सफाई मजदूर, क्रेश नर्स या आयाओं का काम करती थीं। वे बहुत ही कम दूसरे काम करती थीं और महिलाएँ कोई कुशल काम नहीं करती थीं। इसका मतलब यह हुआ कि जब उनके कार्य-क्षेत्र में कोई तकनीकी बदलाव हो तो उनके लिए नौकरियाँ मिलने की सम्भावना घट जाती। उदाहरणतः, 1950 से खानों में स्कीनिंग प्लांट लगने लगे थे, और इस वजह से महिला मजदूरों की छुटनी होने लगी थी। लेकिन कोयला-खानों ने मशीनीकरण में कोई खास लागत लगाना नहीं चाहा। गैर-सरकारी खदान-मालिकों को ज्यादा मजदूर रखकर उन्हें कम मजदूरी देना अधिक पसन्द हुआ।

रात में महिलाओं से काम कराने की मनाही

समान-वेतन, मातृत्व भत्ता (मेटर्निटी बेनिफिट), क्रेडिट जैसी कानूनी सुविधाओं के लागू होने के साथ महिलाओं के 'संरक्षण' के लिए बनाया गया एक और कानून था रात में महिलाओं से काम कराने पर निषेध। 1959 खान (संशोधन) कानून के तहत यह निषेध लगाया गया। उस समय वैगनों की कमी की समस्या बहुत ज्यादा थी, क्योंकि रेलवे द्वारा खाली वैगन रखने के समय को 20 घंटे से घटाकर 8 घंटे कर दिया गया था। अधिक समय वैगन रखने से रेलवे को जुमाना चुकाना पड़ता था। इसका मतलब हुआ कि वैगनों को जल्द से जल्द लोड करना जरूरी है। महिलाओं के रात में काम करने पर निषेध के चलते पुरुषों को लोडिंग का काम अधिक दिया जाने लगा, क्योंकि वे दिन या रात किसी भी समय काम कर सकते थे।

इन सब परिवर्तनों का असर यह हुआ कि उद्योग में महिलाओं की हिस्सेदारी कम होती गई। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि 1950-60 एवं 1960-70 के दशक में ऐसा कोई जुझारू आन्दोलन नहीं था जो महिलाओं की छुट्टी के सवाल को उठा सके। ट्रेड यूनियन नेताओं ने प्रबन्धन के साथ समझौते किये और महिलाओं को बदले में नौकरी नहीं मांग कर छुट्टी का मुआवजा (रिड्डेन्सी पेमेन्ट) लेने पर राजी किया। यूनियनों ने जिस तरह से महिलाओं के अधिकारों को बेच डाला उस पर कुछ खानों में महिलाएँ आज भी यूनियनों से नाराज हैं। महिलाओं को नौकरियाँ देने के सिलसिले में किए गए सभी परिवर्तनों का प्रभाव इस बात से देखा जा सकता है कि कुल मजदूरों की संख्या में महिलाओं का अनुपात 1951-1961 पंद्रहवें पंद्रहवें 15.7% से घट कर 9.3% हो गया।

राष्ट्रीयकरण की ओर

तीस साल पहले कोयला खदान उद्योग की विशेषताएं थी: कम वेतन, ठेकेदारी मजदूरों की बड़ी संख्या,

अधिक घंटे तक अनियमित एवं कठिन काम और कानूनों को लागू न किया जाना। उस समय बहुत-सी महिला मजदूर भी थीं। 1940 और 1960 के बीच परिवर्तन तो हुए, लेकिन काम की खराब स्थितियों और भारी शोषण में कुछ बदलाव नहीं आया। उद्योग में महिलाओं का अनुपात 1971 में 5.3% तक घट गया था। इसमें ठेकेदारी मजदूरों के रूप में काम करने वाली कई महिलाएं शामिल नहीं हैं।

लेकिन इस वक्त तक कोयला खानों में मशीनीकरण सीमित हद तक ही हुआ था; औद्योगीकरण की महत्वकांक्षी योजनाओं को सफल करने के लिए बड़े उद्योगों के लिए अधिक कोयला उत्पादन की जरूरत थी। सरकार कोयला खानों के राष्ट्रीयकरण पर अधिकाधिक विचार करने लगी। कोयला खदान उद्योग में अव्यवस्था छापी हुई थी। निजी खदान मालिक अवैज्ञानिक ढंग से कोयला निकालते थे, जिसे स्लाटर-माइनिंग (कोयला निकालने का कसाई तरीका) कहा जाता है। जो कोकिंग कोयला भारत के इस्पात कारखानों के लिए बहुत ही मूल्यवान है, उसे मुनाफा कमाने के चक्कर में भारी मात्रा में बरबाद किया जा रहा था। बड़े उद्योगों को जिस दर्जे का कोयला जितनी मात्रा में आवश्यक था उतना नहीं मिल पा रहा था। खदान मालिक भारी मुनाफा कम रहे थे, फिर भी वे कहते थे कि वे मजदूरों को 1967 के 'वेतन बोर्ड एवाड' के अनुसार वेतन नहीं दे सकते हैं। उस वक्त पूर्वी भारत के कोयला क्षेत्रों में एक जुझारू मजदूर आन्दोलन छिड़ा। इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि 1971 में कोकिंग कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण किया गया और 1973 में अन्य कोयला खानों का। अब कोयला उद्योग का प्रबन्धन कोल इण्डिया लिमिटेड तथा उससे नियंत्रित कंपनियों के हाथों में है, जैसे भरिया कोयला-क्षेत्र में भारत कोकिंग कोल लिमिटेड, रानीगंज कोयला-क्षेत्र में ईस्टर्न कोलफील्ड इत्यादि।

कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण और महिलाओं को रोजगार

ठेकेदारी प्रथा के खिलाफ संघर्ष

सन् 1940 से कोयला खदान मजदूरों की हालत पर सरकारी जाँचों ने ठेकेदारी प्रथा की भर्त्सना की। 1960-70 के दशक के अंतिम वर्षों में यह समझा जाता था कि इससे उत्पादन पर बुरा असर पड़ता है, क्योंकि मजदूरों का अत्यधिक शोषण जुम्हारू मजदूर आन्दोलन को बढ़ावा देता है। ऐसा लगता था कि राष्ट्रीयकरण के बाद ठेकेदारी मजदूरों को स्थायी रोजगार मिलेगा। लेकिन ठेकेदारी मजदूरों को संघर्ष करना पड़ा और अपनी नौकरियों को पमानेन्ट कराने के लिए उन्हें कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी। इन ठेकेदारी मजदूरों में कई महिलाएँ शामिल थीं और अक्सर इन संघर्षों में उन्होंने अगुवा दस्तों की भूमिका अदा की थी। महिलाओं ने प्रदर्शन किए, अफसरों का घेराव किया और कई बार गुण्डों और पुलिस से मुकाबला किया। कुछ यूनियनों के नेता यह भी मानते हैं कि महिलाएँ इस आन्दोलन का सबसे जुम्हारू हिस्सा थीं। इस संघर्ष के नतीजे नियोजन के आँकड़ों में देखे जा सकते हैं। महिला मजदूरों की कुल संख्या 1971 से 1975 तक 20,144 से 45,264 तक बढ़ी और उद्योग में महिला मजदूरों का अनुपात 5.3% से 8.7% तक बढ़ा।

कोयला-क्षेत्र की आबादी का विश्लेषण

राष्ट्रीयकरण के समय 1971 में कोयला-क्षेत्र की आबादी के अनुपात क्या थे यह जनगणना के आँकड़ों से देखा जा सकता है। धनबाद जिले में भरिया कोयला-क्षेत्र पड़ता है जो भारत में बहुत ही महत्वपूर्ण है। 1971 में जिले की कुल जनसंख्या 14,66,417 थी। इसमें से 6,47,947 महिलाएँ थीं। 1000 मर्दों पर 792 महिलाओं का यह स्त्री-पुरुष अनुपात बिहार के

अन्य भागों की तुलना में बहुत कम है; बिहार का अनुपात 1000 मर्दों पर 954 महिलाएँ हैं। इसकी वजह यह है कि पुरुष मजदूर बिहार के अन्य जिलों से खदानों में काम करने के लिए आते हैं। गया, मुँगेर, शाहबाद और सारण जैसे जिलों से महिलाओं से दुगुनी संख्या में पुरुष यहाँ आये। आदिवासी क्षेत्रों के राँची एवं बिहभूम जिलों से महिलाएँ एवं पुरुष समान संख्या में आये और संथालपरगना से महिलाएँ अधिक आईं। कोयला क्षेत्र बसने लायक जगह नहीं थी और गैर-आदिवासी इलाकों से आयी मध्यम एवं उच्च जातियों की महिलाओं काम करने लायक भी नहीं थी। 1971 में एन शोध में देखा गया कि भारत कोकिंग कोल में नमूने के तौर पर किये गए अध्ययन में महिलाओं में 53.4% हरिजनों की संख्या थी, 8.4% आदिवासियों की, और 30.4% पिछड़ी जातियों की। सिर्फ 7.69% महिलाएँ उच्च जातियों की थीं और ये महिलाएँ मजदूरी नहीं करती थी बल्कि केश नर्स आदि जैसे काम करती थीं।

इस जिले की महिलाओं के लिये कोयला खदान उद्योग कितना महत्व रखता है यह 1971 की जनगणना में दिए गए महिलाओं के व्यवसायों से देखा जा सकता है। धनबाद जिले की 42,896 महिला मजदूरों में सबसे बड़ा हिस्सा 13,791 महिलाएँ, माइनिंग और क्वारी में काम करती थीं। खेतिहर मजदूरों (11,786) और किसानों (5,769) के समूह शहरी औद्योगिक मजदूरी से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। खदान वाले शहरों में तो महिलाओं का रोजगार खदानों में ही होता था। उदाहरणतः भौंरा में 644 महिला मजदूरों में से 560 खदानों में काम करती थीं, करकेन्द में 1677 में से 1471, बिसरा में 1911 में से 1816, भगनडीह में 683 में से 641, जामाडोवा में 464 में से 328, अंगारपथरा में 403 में से 391 आदि। महिलाओं के काम को समझने में जनगणना के आँकड़ें चाहे कितने ही अपर्याप्त हों, इन आँकड़ों से इतना तो समझ में आता है कि इस जिले में महिलाओं के रोजगार के लिए कोयला खदान उद्योग कितना महत्वपूर्ण है। इस बात को

ध्यान में रखना चाहिए कि खदानों में काम करने वाले समुदायों में बहुत ही कम वैकल्पिक रोजगार मिलता है, खासकर महिलाओं के लिए।

राष्ट्रीयकरण के बाद तनख्वाह एवं जीवन

का स्तर

1975 तक उद्योग में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। कई नये लोगों को नियुक्त किया गया (जिसमें कई बेनाम नियुक्तियाँ भी शामिल थीं)। महिलाओं को अब ज्यादातर स्थायी नौकरियाँ मिली थीं। 1975 के एक शोध में यह पाया गया कि कोयला-खदानों की महिला मजदूरों में 71% स्थायी थीं, जो दूसरे खदानों से बहुत अधिक है। यह अनुपात बढ़ता गया, क्योंकि कई महिला मजदूरों का 70 के दशक के अन्त तक स्थायीकरण होता रहा। न केवल उनकी नौकरियों का स्थायीकरण हुआ, बल्कि उनके वेतनों में भी काफी बढ़ोतरी हुई। इस शोध में पाया गया कि कोयला खदानों में महिलाओं का औसत वेतन 12.70 रु० और 17.79 रु० के बीच था, जो पुरुषों के वेतन से कुछ कम होते हुए भी (13.29 रु० से 18.44 रु०) एक महत्वपूर्ण वृद्धि है।

तीस वर्ष पहले की तुलना में महिलाओं के परिवार में कई मूलभूत परिवर्तन हुए। परिवार के सदस्यों की औसत संख्या 3.62 से 4.9 तक बढ़ी और 1946 से 1975 तक प्रति परिवार आश्रितों की संख्या भी 1.74 से 3.1 तक बढ़ी। अब खनिज परिवारों में कोयला-खनिज परिवारों के आश्रितों की संख्या सबसे ज्यादा है, जो कुछ हद तक बढ़े हुए वेतनों के कारण है।

महिलाओं को अन्य सुविधाएँ जैसे मातृत्व भत्ता भी मिलने लगी है, जो उन्हें पहले सिर्फ नाम-मात्र को मिला करता था। भले ही इसकी कुछ राशि कुछ बढ़ी दिखे लेकिन 1975 में वेतनों पर किए गए खर्च का यह सिर्फ 0.25% थी।

महिलाएं एवं ट्रेड यूनियन

ज्यादातर स्थानीय ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ता यह मानते हैं कि महिलाएँ यूनियन का सबसे शुभारंभ हिस्सा हैं।

कई यूनियन उन्हें प्रबन्धन के खिलाफ संघर्षों में इस्तेमाल करने की कोशिश करते हैं। पर्सोनेल अफसर कई बार उनको गालियों के शिकार होते हैं। कई लोग इन गालियाँ-बकने वाली मुखर महिलाओं को बदतमीज और असभ्य समझते हैं। महिला मजदूर पुरुषों से ज्यादा संगठित भी हैं। रेलवे सायडिंग पर भगड़ा हो जाये तो सभी महिलाएँ काम बन्द कर देती हैं। चूँकि सभी महिलाएँ एक-सा काम करती हैं, एक-सा वेतन पाती हैं और सभी निचली जातियों की या आदिवासी होती हैं, इसलिए आपस में बहुत कम मतभेद होते हैं। जो महिलाएँ कोयला खदान के चारों ओर छितराये हुए छोटे-छोटे समूहों में मिट्टी की गोलियाँ बनाने या चपरासी जैसे काम करती हैं वे कम शुभारंभ हो सकती हैं।

यूनियन नेता कहते तो हैं कि महिलाएँ सबसे ज्यादा शुभारंभ हैं लेकिन कई बार महिलाएँ अपने प्रति यूनियन के रखे पर रोष प्रकट करती हैं। यूनियन नेता और कार्यकर्त्ता शुभारंभ महिलाओं से सम्भलकर रहते हैं। आम तौर पर ऐसी मुखर औरतें यौन सम्बन्धों में स्वच्छन्द कही जाती हैं, जो न केवल मुखर और मुँहफट हो सकती हैं (ऐसा मुखर और मुँहफट होना पुरुषों की तुलना में महिलाओं के लिए कम स्वीकार योग्य माना जाता है) बल्कि वे कभी-कभी शराब भी पी लेती हैं, अपने पति के अलावा अन्य मर्दों से सम्बन्ध रखती हैं या घर का काम-काज छोड़कर यूनियन का काम करने, फिल्म देखने या दोस्तों से मिलने भी जाती हैं। प्रबन्धन के लोग इन महिलाओं को नीची नजर से देखते हैं, क्योंकि उनका आचरण उनके 'नारीत्व' की धारणा को ठँस पहुँचाता है। लेकिन ट्रेड यूनियन नेता, जो अधिकतर खुद मध्य-वर्गीय होते हैं, वे भी ऐसे ही विचार रखते हैं, हालाँकि वे इतने साफ शब्दों में उन्हें प्रकट नहीं करते। दुर्भाग्य से इन महिलाओं के ही समाज के ट्रेड यूनियन नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने इस विचार को ग्रहण कर लिया है। राजनैतिक और सैद्धान्तिक तौर पर वे मानते हैं कि महिलाएँ ट्रेड यूनियन आन्दोलन के लिए आवश्यक हैं, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा पर आंच आने के डर से वे इन महिलाओं

से दूर रहते हैं। यूनियन नेताओं और कार्यकर्ताओं में से किसी की भी पत्नी ट्रेड यूनियन में काम नहीं करती।

कुछ यूनियन जब प्रबन्धन के साथ कोई समझौता कर लेते हैं तो महिलाओं की नौकरियाँ बच डालते हैं। अगर छंटनी होनी है तो महिलाओं की होंगी और पुरुषों की नौकरियाँ बच जायेंगी। कई महिलाएँ ऐसे बर्ताव पर नाराज रहती हैं और सोचती हैं कि प्रबन्धन और यूनियन दोनों ही यह नहीं चाहते कि वे कोयला उद्योग में रहें। सभी ट्रेड यूनियनों ने लगभग 1976 में शुरू की गई 'स्वैच्छिक अवकाश' योजना को मंजूर किया है, जिसके अन्तर्गत महिला मजदूरों को छौट कर पुरुष लिए जाते हैं।

इस योजना का बहुत कम विरोध हुआ है। कई महिलाओं ने भी इसका समर्थन किया, खासकर वृद्ध महिलाओं ने, क्योंकि अन्यथा उनके बेटों को नौकरियाँ मिलने का बहुत कम मौका है। पर कई कम उम्र की महिलाओं ने इसका विरोध किया है, और वे समझती हैं कि वे प्रबन्धन और यूनियन दोनों के द्वारा ठुकरा दी गयी हैं। वे यह भी देखती हैं कि कई महिलाओं को रिटायर होने के लिए 'प्रोत्साहित' करने के बाद घर के मर्दों ने उनके साथ बुरा सलूक किया है। अब महिलाएँ नौकरी छोड़ना पसन्द नहीं करतीं।

महिलाएं और काम

कोयलाखानों में महिलाएँ अब जो काम करती हैं वह लगभग वही है जो वे राष्ट्रीयकरण के पूर्व किया करती थीं। वे अकुशल दर्जे के काम ही करती हैं, जैसे वैगन लोडिंग। लेकिन एक पर्सोनेल अफसर की राय में महिलाओं का विश्वास है कि वे अन्य कई किस्म के काम भी कर सकती हैं — ओपनकास्ट खदानों में कुशल काम भी। लेकिन उन्हें इसका मौका नहीं दिया जाता है। एक अन्य रपट में कहा गया है कि महिलाएँ नौकरी के दौरान चलाये गए पाठ्यक्रमों में ट्रेनिंग के लिए भर्ती होने को तैयार हैं, बशर्ते कि स्थानीय तौर पर यह अवसर मिले। भरिया कोयला क्षेत्र में कई महिलाओं का इस बात पर गुस्सा है कि उन्हें नये

हुनर सीखने के अयोग्य समझा जाता है। एक महिला कहती है, "हम सिर पर टोकरी लेकर तो पैदा नहीं हुईं।" ये महिलाएँ अनपढ़ हैं, लेकिन बहुत जल्दी सीखती हैं। बहुत-सी महिलायें तीन भाषाएँ जानती हैं, और कई अंग्रेजी शब्द भी, जिनका उन्हें अफसरों के साथ बात करने में इस्तेमाल करना पड़ता है।

राष्ट्रीयकरण के बाद कई महिला मजदूरों को अतिरिक्त (सरप्लस) घोषित किये जाने के चलते एक परिवर्तन यह आया कि उन्हें विभिन्न श्रेणियों में काम मिला जो पहले पुरुषों के काम समझे जाते थे। अब कई महिलाएँ आफिस में चरपासी हैं। कुछ को पंखा खलासी का काम मिला है। कुछ यूनियन अब यह माँग कर रहे हैं कि ऐसे काम महिलाओं के लिए आरक्षित रखे जायें, खासकर उन महिलाओं के लिए, जिनको उनके पतियों की काम पर मौत के एवज में नौकरियाँ दी गयी हैं। इन महिलाओं में से अधिकतर सोचती हैं कि चूँकि वे वैगन लोडिंग जैसे कठिन काम नहीं कर सकती हैं, इसलिए उन्हें 'संवैदना' की दृष्टि से अन्य काम दिये गए हैं। दुर्भाग्यवश उन्हें अफसरों और कभी-कभी यूनियन के प्रति कृतज्ञता दिखानी पड़ती है कि उन्हें ये नौकरियाँ मिलीं। ये नौकरियाँ ज्यादातर 'अनुत्पादक' या बिना मतलब की हुआ करती हैं। उदाहरणतः चासनाला में दुर्घटना के बाद 375 महिलाओं को नौकरियाँ मिलीं, वहाँ महिलायें प्रबन्धन और अन्य पुरुष कर्मचारियों द्वारा उत्पीड़न की शिकार बनती हैं। वे बहुत कम उपयोगी काम करती हैं और सच में तो काम करना ही नहीं चाहती। उनके बेटों के बड़े होने पर वे रिटायर हो जायेंगी। वे यह भी नहीं जानती कि स्थानीय ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता कौन है क्योंकि यह पुरुषों का क्षेत्र है। दुर्घटना के पहले चासनाला कोयला खदान में कोई भी महिला मजदूर नहीं थी।

ऐसी नौकरियों की संख्या कम है लेकिन महिलाएँ अब तक अकुशल नौकरियों के क्षेत्र में ही अधिक हैं जिसके चलते वे आसानी से मशीनीकरण की शिकार बन सकती हैं।

राष्ट्रीयकरण के बाद मशीनीकरण

राष्ट्रीयकरण के बाद खनन के तरीकों में भारी परिवर्तन हुए हैं। 1972 में ओपन-कास्ट खादानों में 336 डम्पर, 102 डोजर और 38 ड्रिल थे। अब जो स्थिति है उसका अंदाजा इन आंकड़ों से लगाया जा सकता है : 1980 में 211 शोवल थे और 1984 में 423। और इसी दौरान डम्पर्स की संख्या 1089 से बढ़कर 2042 हो गयी है।

यह देखने में आता है कि महिलाओं की नियुक्ति अधिक मशीनीकृत कोयला खादानों में बहुत कम है। वेगन लोडिंग में पे-लोडर्स तथा हाथ से स्कीनिंग और शेलिंग करने के बदले मशीनीकरण लागू करने से महिलाओं के रोजगार पर बुरा असर पड़ रहा है। यह कहा जाता है कि महिलाएँ अनपढ़ होने के कारण ऐसी मशीनें नहीं चला सकती। मैनेजर्स का यह भी कहना है कि महिलाएँ भूमिगत या रात को काम नहीं कर सकतीं और चूँकि वे मातृत्व बेनिफिट की हकदार हैं और उनके लिए क्रेश की सुविधा देनी पड़ती है (हालाँकि बहुत कम महिलाएँ अपने बच्चों को वहाँ भेजती हैं), महिला मजदूर एक बोझ हैं, उनके कारण खर्चा अधिक होता है और वे कुछ उत्पादन नहीं करती। हाँ, मैनेजमेंट के उँचे स्तरों पर इन शिकायतों को कुछ बदलकर प्रस्तुत किया जाता है, पर भरिया कोयला-क्षेत्र के करीब सभी प्रसौनेल मैनेजर्स की यही राय है।

भविष्य में कोयला-खदान उद्योग में महिलाओं की भूमिका

सातवीं पंचवर्षीय योजना कोयला उत्पादन बढ़ाते रहना चाहती है, खासकर ओपन-कास्ट खादानों में भारी यंत्रों की सहायता से। वैसे भी 1979-80 और 1984-85 के बीच ओपन-कास्ट खादानों में उत्पादित कोयले की मात्रा 31% से बढ़कर 49% हुई है। अंदाजा

है कि सातवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह 56% हो जायेगी। योजना का एक उद्देश्य यह भी है कि “अधिक कुशल” मजदूरों का अनुपात बढ़ता जाए।

इसके दो अर्थ हो सकते हैं—एक, “अधिक कुशल” मजदूरों की संख्या बढ़ाना, या अकुशल मजदूरों की संख्या कम करना। उद्योग में हो रहे विकास से यह स्पष्ट है कि अकुशल मजदूरों की संख्या कम करने का मार्ग अपनाया जा रहा है। कोयला विभाग के वार्षिक रपट में कहा गया है कि कोल ईंडिया लिमिटेड पर मजदूरों की अधिकता का भारी बोझ है। और वह अब इस संख्या को कम करने का मार्ग खोज रही है, जिसे कर्मचारियों का “वैज्ञानिक पुनर्गठन” कहा गया है। अब, मजदूरों के रिटायर होने पर, उनके आश्रितों को नौकरियाँ नहीं मिलेंगी, जो तीसरे राष्ट्रीय कोल वेज बोर्ड समझौते के खिलाफ है। नये अकुशल मजदूरों की भर्ती पर “करीब पूरी रोक” लगा दी गयी है। स्वेच्छिक अवकाश योजना खत्म कर दी गयी है। यथासंभव सप्लस मजदूरों को काम पर लगाने का मार्ग अपनाया गया है।

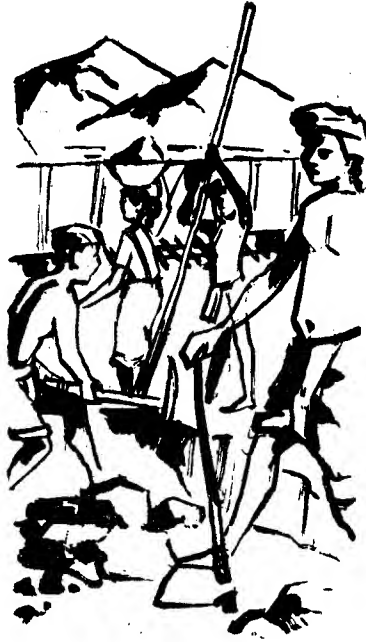
कोल ईंडिया लिमिटेड उस योजना को भी बन्द करने की कोशिश कर रही है जिसके अन्तर्गत जिन लोगों की जमीन उद्योग के लिए ली गयी है, उनको नौकरियाँ दी जाती हैं। इस पर अमल करना सबसे अधिक कठिन साबित हुआ है। कई जमीन मालिक जमीन के बदले नौकरियाँ नहीं मिलने पर कोल ईंडिया लिमिटेड का अपनी जमीन बेचने से इन्कार करते हैं। इस योजना के खिलाफ हुए हिंसक संघर्षों के बाद कोल ईंडिया लिमिटेड अपनी इस नीति में परिवर्तन लाने का विचार कर रही है।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि कोल ईंडिया लिमिटेड मजदूरों की संख्या घटाने पर तुला हुआ है। महिला मजदूरों को यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि कोयला

खदानों में वे ज्यादा दिन टिक नहीं सकेंगी। खदानों के राष्ट्रीयकरण के बाद वे जिस स्वाधीनता, आजादी और सुरक्षा के लिए लड़ी थीं वह उन्हें बहुत कम दिनों तक मिली। अब उनकी बेतों को भी खदानों में नौकरियाँ नहीं मिलेंगी, उनक बेतियों की तो बात ही छोड़ो। हो सकता है कि कोयला अधिकारियों द्वारा चलायी जा रही निर्माण योजनाओं में उन्हें काम मिले। वह काम अभी तक ठेकेदारों के हाथों में है और इसमें 30% मजदूर महिलाएँ हैं। तन्ख्वाह बहुत ही कम है—भरिया कोयला-क्षेत्र में कई जगह महिलाओं को 8-10 रु० वेतन मिलता है और पुरुषों को 12-14 रु०। यह दर कानूनी न्यूनतम वेतन से बहुत कम है और महिलाओं को खदानों में जितना वेतन मिलेगा उससे और भी कम। एक ही अन्य क्षेत्र है जहाँ महिलाएँ भारी संख्या में नजर आती हैं और वह है सब्जी बेचना। ये ज्यादातर

खदान वाले कस्बों के आसपास रहनेवाली महिलाएँ होती हैं, जो अपनी उपज बेचने बाजार चली आती हैं। कभी-कभी उनके पति खदानों में काम करते हैं, लेकिन महिलाएँ खुद भी इस थोड़े पैसे के बल पर परिवार संभालती हैं। भविष्य में कोयला-क्षेत्र में महिलाओं के लिए जो भी नौकरियाँ होंगी, वे कम वेतनवाली, असुरक्षित और अस्थायी होंगी और उन्हें वे फायदे नहीं मिलेंगे जो महिलाओं ने सालों से लड़कर हासिल किये थे।

यह असंभव लगता है कि महिला मजदूरों की संख्या बढ़ेगी। गये दो सालों से कोल इंडिया लिमिटेड जोरों से अपनी छंटनी एवं मशीनीकरण की योजनाएँ चला रहा है। इन सब परिवर्तनों के कारण एक मजदूर वर्ग बनेगा जो अपेक्षाकृत छोटा होगा, बहुत कुशल, पढ़ा-लिखा और गैर-स्थानीय होगा और जिसमें सिर्फ पुरुष होंगे।



भारखण्ड आन्दोलन और मजदूर आन्दोलन

(लेखक लेख में उल्लिखित मजदूर आन्दोलन के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे) —रंजन घोष

भारखण्ड हिन्दुस्तान का एक प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र है। यहाँ विभिन्न प्रकार के खदानों, बिजली उत्पादन गृहों, इस्पात कारखानों आदि में देश के अनेक प्रांतों से आये हुए मजदूर काम करते हैं। भारखण्ड अलग प्रांत के निर्माण के आन्दोलन में इनकी भूमिका क्या होगी? अथवा इन मजदूरों के ट्रेड यूनियन आन्दोलन के प्रति भारखण्डियों का रुख कैसा होना चाहिए? भारखण्ड के निवासी तथा बाहर से आये मजदूर—इन दोनों शोषित समुदायों को एक दूसरे के विरोध में खड़ा करने की साजिश इन दिनों देखने को मिलती है। लेकिन इसके विपरीत ऐसी मिसालें भी हैं, जब भारखण्ड आन्दोलन और मजदूर आन्दोलन ने एक दूसरे के पूरक होकर दोनों को शक्तिशाली बनाये थे। धनबाद के कोयला अंचल में भारखण्ड मुक्ति मोर्चा और बिहार कोलियरी कामगार यूनियन (B C K U) द्वारा चलाया गया आन्दोलन ऐसा ही एक मिसाल था। भारखण्ड आन्दोलन को शक्तिशाली और कारगर बनाने के लिए उस गौरवमय परम्परा पर विशेष रूप से प्रकाश डालने तथा उस इतिहास का अध्ययन करने की जरूरत है। प्रस्तुत लेख ऐसा ही एक प्रयास है।

कोयला मजदूर आन्दोलन की पृष्ठभूमि

शुरु में भारखण्ड के निवासी, संथाल और बाउरी जाति के लोग ही कोयला खानों में काम करने के लिए आते थे। धीरे-धीरे भारखण्ड की अन्य जातियाँ, जैसे कुर्मी, रजवाड़, घटवार, मोची आदि ने भी कोयला खानों में काम करना शुरू किया। ये लोग देहाती या

स्थानीय मजदूरों के नाम से जाने जाते हैं। वे धनबाद पुरुलिया, हजारीबाग आदि जिलों से आते थे और स्थायी रूप से कोलियरी की मजदूर बस्तियों (जिसे घौड़ा कहा जाता है) में नहीं रहते थे। कालान्तर में कोयला खानों के विस्तार के साथ-साथ बिहार के मुँगेर, भागलपुर, पटना आदि जिलों से मुसहर, नोनिया, चमार, हरिजन आदि, इलाहाबाद, गाजीपुर से पासी एवं दुसाध, मध्यप्रदेश के बिलासपुर और उड़ीसा के सम्बलपुर आदि जिलों से भी हजारों लोग धनबाद के कोयला खानों में काम करने आये। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उत्तरप्रदेश के गोरखपुर अंचल से एक के तरह बन्धुआ मजदूरों का भी धनबाद में आगमन हुआ। विभिन्न अंचलों से आये हुए, विभिन्न भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों वाले इन मजदूरों के बीच संगठित ट्रेड यूनियन आन्दोलन का विकास होना आसान नहीं था। फिर खदान भी एक नहीं थी। कुछ बड़े खदान थे जहाँ 1000-2000 मजदूर काम करते थे और जो आजादी के पहले मुख्यतः अंग्रेजों के हाथ में थे। देशी मालिकों के अधीन जहाँ-तहाँ बिखरी हुई छोटी-छोटी खदानें थीं। इन खदानों में मजदूरों के वेतन-मान या अन्य सुविधाएँ भी एक समान नहीं थीं। लेकिन एक मामले में छोटे-बड़े सभी मालिकों का व्यवहार एक जैसा था, वह था मजदूर आन्दोलन या मजदूर संगठनों के प्रति उनके कड़े खेये। मजदूरों को संगठित करने के किसी भी प्रयास को वे बल प्रयोग द्वारा दबा देते थे। इसी उद्देश्य से मालिक कुछ गुण्डों एवं पहलवानों को नियुक्त करते थे जिन्हें चपरासी कहा

जाता था। वे अधिकांशतः उत्तर बिहार से आये ऊँची जाति के लोग होते थे। इनका मुख्य काम था मार-पीट कर या डरा-धमका कर मजदूर आन्दोलन को कुचल देना। इनमें से कुछ लोग तो पेशेवर अपराधी थे। धनवाद में, मजदूर आन्दोलन का सबसे बड़ा दुश्मन था—इन चपरासियों याने गुण्डों का दल। इनमें से अधिकांश लोग सूदखोरी का धन्धा करते थे, जिसमें ब्याज की दर सालाना 400 से 600 प्रतिशत तक होती थी। ब्याज वसूलने के लिए चपरासियों के दल लाठी और भाला लेकर मजदूर बस्ती में या पेमेन्ट काउन्टर पर खड़े हो जाते थे। इनके जाल में जो एक बार फँसता था उसकी स्थिति दयनीय और बदतर हो जाती थी।

आगे चलकर इन्हीं में से कुछ लोग कोयला उत्खनन या लोडिंग का ठेका भी चलाने लगे। इनके अधीन ठेका मजदूरों की जो हालत थी उसकी तुलना सिर्फ चाय बगान के कूलियों के साथ ही की जा सकती थी। आजादी के बाद इन गुण्डों, सूदखोरों एवं ठेकेदारों के गुटों को कांग्रेसी सरकार तथा कांग्रेसी यूनियन इंटक (INTUC) की छत्रछाया मिली। यदि चाचा ठेकेदार तो भतीजा इंटक नेता बन गया। इससे मजदूरों को लूटने का एक और हथकण्डा मिल गया याने यूनियन का चन्दा। सूर की वसूली जैसे ही यूनियन का चन्दा भी पूरी निर्ममता से वसूला जाने लगा।

इस गुण्डागर्दी के खिलाफ लड़ाई का एक दौर 1950 के आसपास साधन गुप्ता, अब्दुल बारी आदि के नेतृत्व में शुरू हुआ। सी० पी० आई० के कार्यकर्त्ताओं ने भी इसी समय कोयला मजदूरों के बीच टूट यूनियन आन्दोलन चलाने की कोशिश की। लेकिन सरकार, मालिक और गुण्डों के सम्मिलित हमलों के सामने ये प्रयास ज्यादा दिन टिक नहीं पाये। अब्दुल बारी को तो गुण्डों ने घात लगाकर मार दिया तथा साधन गुप्ता को भूठे केस में फँसाकर आजीवन कारावास मिला और सी० पी० आई० के नेताओं को भी लम्बी जेल यातनायें सहनी पड़ीं।

आन्दोलन का नया दौर

1967 के आसपास कुछ वामपंथियों के नेतृत्व में कोयला मजदूरों को संगठित करने का एक नया दौर शुरू हुआ। इस नये नेतृत्व ने पहले के इतिहास से कुछ सबक लिया। पुराने नेताओं ने मुख्यतः बड़े कोलियरियों में अपना ध्यान केन्द्रित किया था, जहाँ अधिक संख्या में मजदूर स्थायी रूप से निवास करते थे। वे बाहरी मजदूर लड़ाकू थे, लेकिन पुलिस और गुण्डों के घेरे में बँधे रहते थे। उनके बीच संगठन करने की कोशिशों को शुरू में ही कुचल दिया जाता था। पुराने नेताओं का अनुभव था कि स्थानीय मजदूर लड़ाकू नहीं होते हैं। वे टूट यूनियन के प्रति उदासीन रहते हैं। इनके अनुभव में कुछ सच्चाई थी और ऐसा होने का कारण भी था। स्थानीय मजदूर अक्सर छोटी-छोटी खानों में काम करते थे, जहाँ काम मिलना अनियमित था। काम की स्थिति नापसन्द होने या वेतन कम होने से वे एक खदान छोड़कर दूसरे खदान चले जाते थे या फिर घर लौट जाते थे क्योंकि उनके गाँव नजदीक थे। इसके अलावे पुराने यूनियनों के कार्यकर्त्ता प्रायः बाहर से आये हुए ऊँची जाति के बाबू लोग होते थे, जिनपर स्थानीय मजदूरों का कोई भरोसा नहीं था।

नये नेतृत्व ने अपना काम शुरू किया उन छोटी खानों में जहाँ स्थानीय मजदूरों की संख्या अधिक थी। इस बीच परिस्थिति बदल चुकी थी। स्थानीय मजदूर टूट यूनियन के प्रति पहले जैसे उदासीन नहीं रह गये थे। बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण एक खदान छोड़कर दूसरे खदान में चले जाना अब मुश्किल था। जो भी हो, इन स्थानीय मजदूरों को संगठित करने का काम अपेक्षाकृत आसान था क्योंकि उनके साथ बैठक या विचार विमर्श गाँव में ही हो सकता था जहाँ गुण्डों या पुलिस के हमले का डर कम था। दरअसल बाद में कोलियरियों के समीपवर्ती गाँव ही मजदूर कार्यकर्त्ताओं के लिए एक मुख्य क्षेत्र बन गये जहाँ धौड़ा में रहने वाले बाहरी मजदूर भी

आजादी से आ सकते थे और सभा और बैठक आदि में भाग लेकर अपने को संगठित कर सकते थे।

चूँकि वैधानिक तरीकों से ट्रेड यूनियन आन्दोलन याने शान्तिपूर्ण हड़ताल, प्रदर्शन, आमसभा पर मालिक के गुण्डों और पुलिस का सशस्त्र हमला होता था इसलिए शुरू से ही मजदूर आन्दोलन को भी सशस्त्र और लड़ाकू रूप धारण करना पड़ा। पहली लड़ाई शुरू हुई कच्छी-बलिशरी नामक खदान में, जहाँ ठेकेदारों द्वारा कम वेतन दिये जाने के खिलाफ मजदूरों ने हड़ताल किया था। हड़ताल को तोड़ने के लिए मालिक और इंटक के गुण्डों ने मजदूरों पर सशस्त्र हमला किया, जिससे एक मजदूर शहीद हुआ और कई लोग घायल हुए। खदान कई महीनों तक बन्द रहा लेकिन मजदूर पीछे नहीं हटे। गुण्डों की लाठी-बन्दूकों का मुकाबला डेला, पत्थर और तीर-धनुषों से किया गया। कई मजदूर और कार्यकर्ताओं को भूठे केस में फँसाकर जेल में बन्द किया गया, फिर भी संघर्ष जारी रहा। अन्त में मालिकों को झुकना पड़ा, मजदूरों की माँगें माननी पड़ीं। मजदूरों पर इस जीत का गहरा प्रभाव पड़ा। आस-पास की दूसरे कोलियरियों में भी फैलने लगी इस लड़ाई की आग। इस तरह स्थापित हुआ एक नया संगठन—बिहार कोलियरी कामगार यूनियन।

यह एक स्वतःस्फूर्त आन्दोलन था। अक्सर मजदूर खुद आकर कामगार यूनियन के नेताओं से सम्पर्क करते थे। बाद में ऐसा भी हुआ कि कामगार यूनियन के नेतृत्व को कोई सूचना दिये बिना ही मजदूर कामगार यूनियन का नाम लेकर लड़ाई शुरू कर देते थे। लड़ाई हर कोलियरी में एक ही रूप धारण करती थी। मजदूरों का असन्तोष जो भी रहा हो, पहला कदम था कामगार यूनियन का झण्डा याने लाल झण्डा गाड़ना। वही था प्रतिरोध का एक प्रतीक, मजदूरों के आत्मसम्मान का एक निशान। किसी कोलियरी में लाल झण्डा गाड़ देने से ही मालिक एवं ठेकेदारों के हमलों का सामना करना पड़ता था और शुरू होती थी मुठभेड़। एक तरफ लाठी, भाला, बन्दुक आदि से लैस मोटे-ताजे पहलवानों का दल और दूसरी तरफ चिथड़ों को

लपेटे हुए काले-कलटे मजदूर जिनके हथियार थे डेला-पत्थर और तीर-धनुष। बेशक इन लड़ाइयों में मौत अक्सर मजदूरों की ज्यादा होती थी। बाद में पुलिस, जो मुठभेड़ के समय सिर्फ दर्शक की भूमिका अदा करती थी, मजदूरों को ही भूठे मुकदमों में फँसा कर जेल भेजती थी। इन लड़ाइयों में मजदूरों की अपनी माँगें जैसे कि वेतन, बोनस या अन्य सुविधाएँ गौण हो जाती थीं। मुख्य नारा होता था—गुण्डों को मार भगाओ ; गुंडों शब्द का अर्थ था मालिक, ठेकेदार, सूदखोर और इन्टक नेताओं का कुचक जिसने मजदूरों के जीवन को तबाह कर रखा था।

तीव्र विरोध के बावजूद, बिहार कोलियरी कामगार यूनियन के नेतृत्व में मजदूर आन्दोलन तेजी से आगे बढ़ने लगा। इसका एक कारण यह था कि यह सिर्फ मजदूरों का आन्दोलन नहीं था, इस आन्दोलन में धनवाद की ग्रामीण जनता का न सिर्फ समर्थन बल्कि सक्रिय सहयोग था; यह उसका भी आन्दोलन था, क्योंकि यह आन्दोलन जिन गुण्डों और उनके दुश्मनों के खिलाफ था वह ग्रामीणों का भी दुश्मन था। खदानों के विस्तार के कारण बहुत से गाँव वालों की जमीन बरबाद हो गई। खदानों में आये ठेकेदार या उनके गुण्डे ग्रामीणों पर भी अत्याचार करने से बाज नहीं आते थे। कोलियरी के साप्ताहिक बाजारों में सब्जी आदि बेचने वाले ग्रामीणों का सामान लूट लेना, ग्रामीण महिलाओं को बेइज्जत करना, ये सब आम बातें थीं। सर्वोपरि, इस दुश्मन का गठबन्धन ही धनवाद में भारखण्ड आन्दोलन का सबसे बड़ा शत्रु था और उग्र बिहारी राष्ट्रवाद का वाहक था। 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की जाँच के दौरान इन गुण्डों के नेता बी० पी० सिन्हा ने भारखण्ड के खिलाफ सबसे जोरदार आवाज उठायी थी।

कोयलांचल में भारखण्ड आन्दोलन

आजादी के बाद धनवाद और आस-पास के इलाके में सार्वजनिक क्षेत्र के बहुत से उद्योगों की स्थापना हुई—सिंदरी खाद कारखाना, बोकारो इस्पात उद्योग, पंचेत और माइथन के बान्ध, टुंडू जस्ता कारखाना आदि इनमें प्रमुख

हैं। ये सारे उद्योग स्थानीय अर्थात् भारखण्ड के लोगों के लिए कोई वरदान नहीं बल्कि अभिशाप साबित हुए। उनके चलते ग्रामीणों की जमीनें बरबाद हो गईं लेकिन इन्हें सिंचाई का पानी या बिजली नहीं मिली। कारखानों से निकलते धुएँ ने यहाँ के वातावरण को दूषित किया। इन कारखानों में स्थायी और अच्छे वेतन वाली नौकरियाँ स्थानीय लोगों को नहीं मिली, सिर्फ अस्थायी काम इन्हें मिला और वे ठेकेदारों द्वारा निर्मम रूप से शोषित हुए। इन कारणों से स्थानीय लोगों के अन्दर एक असन्तोष की आग सुलग रही थी।

स्थानीय कुल समाज सुधारक संस्थाएँ जैसे शिवाजी समाज और संथाल समाज इस जन-असन्तोष को संगठित रूप देने की कोशिश कर रहे थे। कामगार यूनियन के आन्दोलन ने इस काम में सहयोगी भूमिका अदा की। कामगार यूनियन के नेतृत्व ने चूँकि गाँवों में अपने काम को केन्द्रित किया था इसलिए इन समाज सुधारक संस्थाओं के साथ उसका सहजता से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुआ। इनके नेता बिनोद बिहारी महतो या शिवू सोरेन वामपंथी राजनीति से प्रभावित थे, इसलिए यह मैत्री और आसानी से बन सकी। जो भी हो, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ कोयला मजदूरों की लड़ाई (जिसमें बहुत से स्थानीय मजदूरों ने भी सक्रिय भाग लिया) ने यहाँ की ग्रामीण जनता को अपने जुल्मों को खत्म करने के लिए आन्दोलन में प्रोत्साहित किया और इसी का नतीजा था भारखण्ड मुक्ति मोर्चा की स्थापना।

भारखण्ड अलग प्रान्त के निर्माण की माँग को लेकर आन्दोलन 1930 से ही शुरू हुआ था लेकिन उसका विशेष प्रभाव धनवाद में नहीं पड़ा था। अब धनवाद इस आन्दोलन का नया केन्द्र बना। स्थानीय लोगों में जितना असन्तोष इतने दिनों से सुलग रहा था वह भारखण्ड आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त हुआ। 4 फरवरी 1973 को भारखण्ड मुक्ति मोर्चा के 'स्थापना दिवस' के रूप में मनाया गया और एक अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ जब भारखण्ड के हरे भण्डे के साथ-साथ लाल भण्डा लिए कोलियरी मजदूर भी काफी संख्या में इसमें शामिल हुए।

बिहार कोलियरी कामगार यूनियन इस आन्दोलन को सक्रिय समर्थन दे रहा था। BCKU के नेतृत्व में बाहर से आये हुए गैर भारखण्डी मजदूर भी नारा लगा रहे थे "भारखण्ड राज हमारा है" "कैसे लोग भारखण्ड—लड़के लेंगे भारखण्ड।"

दरअसल भारखण्ड आन्दोलन से गैर-भारखंडी मजदूरों को कोई नुकसान नहीं था बल्कि लाभ ही था। भारखण्ड आन्दोलन के मुख्य दुश्मन वे ही कांग्रेसी गुण्डे, ठेकेदार और सरकारी प्रशासन थे जो मजदूरों के भी दुश्मन थे। धनवाद का ग्रामीण अंचल जो भारखंड आन्दोलन का आधार था, वह मजदूर आन्दोलन को शक्ति और सहायता दे रहा था। जब पुलिस दमन या गुण्डों के हमलों के चलते कोलियरी में रहना असम्भव हो जाय तो गाँव के लोग मजदूरों और उनके परिवारों को आश्रय देते थे। तालाबन्दी या हड़ताल के समय भूखे मजदूरों को गाँव-गाँव से चावल या अनाज चन्दा के रूप में मिलता था। गुण्डों के हमले के जवाब में प्रदर्शन या जवाबी हमले में गाँव के नौजवान भी भाग लेते थे।

भारखंड आन्दोलन सिर्फ सभाओं और जुलूसों तक ही सीमित नहीं रहा, भा० मु० मो० के नेतृत्व में धनवाद और गिरिडीह जिले के सीमावर्ती इलाकों, टुण्डी और पालमा अंचल में आदिवासियों द्वारा जमीन पुनर्दखल की लड़ाई शुरू हुई। उस इलाके में सी० एन० टी० एकट का उल्लंघन करके ग्रामीण महाजनों ने गरीब आदिवासियों से बहुत जमीन छीन ली थी। शिवू सोरेन के नेतृत्व में वहाँ पर जबरदस्त लड़ाई हुई, इतना ही नहीं, वहाँ पर पुनर्दखल भी किया गया। जमीनों पर सामूहिक खेती, सामूहिक पशुपालन एवं रात्रि पाठशाला जैसे बहुत-से रचनात्मक कार्य किए गये जिसने भारखंड आन्दोलन के इतिहास में एक अनोखी और गौरवमय परम्परा को जन्म दिया। उसी तरह माइथन डेम के चलते उजड़े हुए ग्रामीणों ने उचित मुआवजा एवं पुनर्वास की माँग को लेकर लड़ाई शुरू की। चन्दन-कियारी के हरिजन और पिछड़ी जातियों के लोगों ने

वहाँ की ऊँची जातियों के महाजन एवं धनी किसानों के खिलाफ सशस्त्र लड़ाई शुरू की, जिसके फलस्वरूप भा० मु० मो० के तीन कार्यकर्ता शहीद हो गए। इन सभी लड़ाइयों में कामगार यूनियन के सक्रिय समर्थन ने इन लड़ाइयों को काफी मजबूत किया। जिस समय देश के सभी वामपंथी, दक्षिणपंथी राजनैतिक दलों, यहाँ तक कि नक्सलवादियों ने भी भारखण्ड आन्दोलन और भारखण्ड मुक्ति मोर्चा का विरोध किया था, उस समय कामगार यूनियन का सक्रिय समर्थन अत्यन्त मूल्यवान साबित हुआ।

यहाँ पर यह उल्लेख करना जरूरी है कि उस समय शासक दल ने भारखण्डी और गैर-भारखण्डी मजदूरों के बीच फूट डालने की भरसक कोशिश की। धनवाद के कांग्रेसी दैनिक “आवाज” ने हौवा खड़ा किया कि भा० मु० मो० बाहरी लोगों को भगाना चाहता है। एक झूठा प्रचार किया गया कि भारखण्डी लोग “लोटा, मोँटा और सौँटा” को भगाना चाहते हैं। लोटा मारवाड़ियों का प्रतीक, मोँटा सिखों का और सौँटा बिहारियों का प्रतीक था। लेकिन इस गलत प्रचार का कोई असर मजदूर आन्दोलनों पर नहीं पड़ा। कोयला अंचल के शोषित पीड़ित मजदूरों ने लाल झण्डे और हरे झण्डे के इस मैत्रीपूर्ण बन्धन का हार्दिक स्वागत किया और अपनी लड़ाई को और तेज किया।

आज की स्थिति

आगे चलकर बोकारो के इलाक़ात मजदूर और गोमो और धनवाद के रेल मजदूर (जिसमें अधिकांश भारखण्डी थे) भी भारखण्ड आन्दोलन में सक्रिय भूमिका लेने लगे। गोमो के रेल मजदूरों के नेता सदानन्द भा भारखण्ड आन्दोलन के चलत ही शहीद हुए। वहाँ के महाजनों ने उसे मार डाला।

लेकिन आज धनवाद कोयला अंचल का क्या हाल है? आज मजदूर आन्दोलन और भारखण्ड आन्दोलन दोनों बिखरे हुए हैं। भारखण्ड मुक्ति मोर्चा और बिहार कोलियरी कामगार यूनियन, दोनों संगठन आज शक्तिहीन और प्रभावहीन बन गए हैं। दोनों में आज सुविधाभोगी, स्वार्थी और भ्रष्ट लोगों की भरमार है। ऐसा क्यों हुआ?

लाल और हरे झण्डे के सम्मिलित आन्दोलन को कुचलने के लिए शासक वर्ग ने लाठी और चारावाला तरीका अपनाया। एक तरफ़ हजारों मजदूर कार्यकर्ता और नेताओं को जेल में बन्द किया गया। उन पर निर्दयता से शारीरिक अत्याचार किया गया। दूसरी तरफ़ उनके सामने कुछ प्रलाभन, जैसे स्थायी नौकरी, छोटी-मोटी ठेकेदारी एवं सरकारी कर्ज का चारा डाला गया।

टुन्डी और पालमा के किसानों के बीच स्वयं उगायुक्त सरकारी कर्ज का थैला लेकर हाजिर हुए। चन्द्रपुरा माइथन आदि डी० व्ही० सी० के उद्योग के आस-पास के एक आध गाँवों में कुछ स्वनिर्भर रोजगार योजना आदि चालू किए गए। खदानों के विस्तार के कारण बरबाद हुए जमीनों के बदले कुछ ग्रामीणों को स्थायी नौकरी मिली। कोलियरी या दूसरे सरकारी उद्योगों में छोटी-मोटी ठेकेदारियाँ कुछ स्थानीय लोगों को दी गयीं। बोकारो और अन्य जगहों में सरकार द्वारा उद्योगों हेतु ली गयी जमीन का पुनर्मूल्यांकन हुआ। यानि भारखण्ड के लोगों की जो आर्थिक माँग थीं उनमें से कुछ की पूर्ति की गई, या इसे यों कहा जाय कि पूर्ति करने का स्वांग रचा गया।

पूँजीवादी व्यवस्था रोजगार या निजी मुनाफ़ा के सीमित अवसरों की सृष्टि करती है किन्तु जनता में एक असीमित लालच पैदा कर देती है। ऊपर लिखित आर्थिक सुविधाएँ जो धनवाद के भारखण्डियों को दी गयीं वे सीमित थीं लेकिन इसको हासिल करने के लिए भारखण्डियों के अन्दर ही जो होड़ शुरू हुई वह असीमित थी। भारखण्ड

आन्दोलन के चलते एक मुखर, चालाक तबके के लोग भार-खण्डी समाज में पनपे, जो इन आर्थिक सुविधाओं को पाने की होड़ में शामिल हो गए। ये लोग अपने भारखण्ड आन्दोलन या संगठन से अलग नहीं हुए बल्कि शासक वर्ग से और ज्यादा निजी सुविधा हासिल करने के लिए आन्दोलन और संगठन का इस्तेमाल करने लगे।

भारखण्ड मुक्ति मोर्चा का नेतृत्व आर्थिक सुविधा के इस खतरे के प्रति सजग नहीं था। वे तो इसे जीत मान कर इसे पाने के लिए लोगों को प्रोत्साहित कर रहे थे। फलतः सुविधा पाने की इस होड़ ने संगठन के कार्यकर्ताओं के बीच आपस में सन्देह, अविश्वास और अन्त में दुश्मनी पैदा कर दी। इसे रोकना तो दूर, भा० मु० मो० का केन्द्रीय नेतृत्व भी इस होड़ में शामिल हो गया।

आपातकाल के दौरान जेल में बन्दी भा० मु० मो० के नेताओं पर सरकारी दबाव आने लगा। किसी-किसी ने इस दबाव के सामने आत्मसमर्पण भी किया, इससे भा० मु० मो० की प्रतिष्ठा पर गहरी चोट आई तथा संगठन में दरार पैदा हो गई। आपातकाल के बाद हुए चुनावी माहौल ने इस दरार को और भी गहरा कर दिया। भार-खण्ड मु० मो० गुटों में विभक्त हो गया। एम० एल० ए० और एम० पी० बनने के लोभ से नेता और कार्यकर्ता अपनी प्रतिष्ठा और अपने प्रभावक्षेत्र को बढ़ाने के काम में जुट गए। इसी क्रम में बना, भारखण्ड मजदूर संघ जो स्पष्टतः भारखण्डी मजदूरों का अलग खेमा बनाने का प्रयास था। इस तरह जिस आन्दोलन ने धनवाद के समस्त मजदूर आन्दोलन से प्रेरणा लेकर जन्म लिया था उसने उसी से अपने को अलग कर लिया।

इधर कोयला मजदूरों के आन्दोलन में भी पनपने लगा—सुविधावाद। 1973 तक सारी कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण हो गया था। कोयला मजदूरों को अब स्थायी नौकरी मिली। वेज बोर्ड के तहत मजदूरों को अच्छा वेतन तथा अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध होने लगीं। इससे स्पष्टतः कोलियरी के स्थायी मजदूर और अस्थायी मजदूरों के बीच

आर्थिक असमानता काफी बढ़ गई। 1977 के बाद से खदानों में तेजी से मशीनीकरण शुरू हुआ। नये-नये विदेशी मशीन आने लगे, जिसे चलाने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित श्रमिकों की जरूरत थी।

आंशिक रूप से इस जरूरत की पूर्ति बाहर से लाये गए कुछ नए मजदूरों से की गई जो कोयला अंचल की संघर्षपूर्ण परम्परा से बिल्कुल अपरिचित थे और इसलिए मजदूर आन्दोलन के प्रति उदासीन थे। फिर पुराने मजदूरों में से भी कुछ को प्रशिक्षण देकर ऊँचे वेतन वाला दक्ष मजदूरों का काम सौंपा गया। इस तरह कोयला मजदूरों के अन्दर एक अभिजात मजदूर वर्ग का जन्म हुआ।

जुभापुर मजदूर आन्दोलन ने कोलियरी प्रबन्धन को बाध्य किया कामगार यूनियन को मान्यता देने के लिए। पहले अधिकांश कोलियरियों के मालिक या मैनेजर इन्टक को छोड़कर बाकी किसी भी यूनियन के साथ बात तक करना नहीं चाहते थे। अब कामगार यूनियन का एक साधारण कार्यकर्ता भी सफेदपोश बाबू और मैनेजरों के साथ बैठकर मजदूरों की शिकायतों पर विचार-विमर्श करने लगा। मजदूरों के रोज़मर्रा की छोटी-छोटी समस्याओं जैसे छुट्टी, बीमारी, पदोन्नति, बदली, हल्के काम आदि ने यूनियन कार्यकर्ताओं को ज्यादा उलझाये रखा। इन समस्याओं को लेकर कोई बड़ा आन्दोलन खड़ा नहीं हो सकता था। इन सबमें फँसे रहने के कारण अनजाने ही मजदूर आन्दोलन का अपना दायरा सीमित होने लगा क्योंकि ये समस्याएँ सिर्फ स्थायी मजदूरों की थीं, व्यापक जनता का इससे कोई खास ताल्लुक नहीं था।

इधर “गुण्डों को मार भगाओ” नारा जो मजदूरों और गाँव के लोगों को एक साथ मिलाता था, वह नारा भी धीरे-धीरे अपनी प्रासंगिकता खोने लगा, क्योंकि गुण्डों ने भी बदलती हुई परिस्थिति में अपनी रणनीति बदलनी शुरू की थी। जुभापुर मजदूर आन्दोलन को देखते हुए सूद का कारोबार अब उतना फायदेमन्द नहीं रह गया था। इन्टक नेताओं द्वारा जबरन चन्दा बसूली भी बन्द करना या कम

करना पड़ा। कोयला उत्खनन में ठेकेदारी भी बन्द हो गयी लेकिन इन गुण्डों के लिए दूसरे रास्ते खुल चुके थे। वह था कोयला या बालू ढुलाई का ठेका। खदान से कोयला निकालने के बाद खाली जगह को बालू से भरने का कानून है, ताकि ऊपर की जमीन न घँसे और नीचे बचे-खुचे कोयले में आग न फैल सके। इसके लिए दामोदर नदी से बालू ट्रकों में लाद कर कोलियरियों में लाया जाता है। इसी तरह खदान से डिपो तक ट्रकों में कोयला ढोया जाता है। ढुलाई का काम आज भी ठेका द्वारा चलाया जाता है। कोयला अंचल के दुष्चक्र गठबन्धन जिसे अब 'माफिया' कहा जाता है ऐसे ठेके चलाते लगे। इसमें भ्रष्ट कर्म और मुनाफा करोड़ों में है। जहाँ असल में ढुलाई हुआ 10 ट्रक बालू या कोयला का, वहाँ प्रबन्धन की मिलीभगत से बिल बनता है 200 ट्रकों का। इसमें मजदूरों, खासकर कोलियरी के स्थायी मजदूरों के साथ कोई नाता नहीं होता है इसलिए इनके धन्य बेरोक टोक चलने लगे। बेशक कोयला अंचल में मारपीट, बन्दूक और पिस्तौल का राज खत्म नहीं हुआ, लेकिन मारपीट या खून-खराबा अब ठेकेदार या माफिया गिरोहों के आपस की बात हो गई, जिसका मुद्दा यह होता है कि लूट का हिस्सा किससे कितना मिलेगा। कोलियरी मजदूरों के साथ मुठभेड़ अब अतीत की बात हो गई है। सिर्फ इतना ही नहीं, आपातकाल के बाद जनता लहर ने इन्हें राजनीतिक प्रतिष्ठा भी दिला दी। कल तक जो धनबाद के कुख्यात गुण्डों का सरगना था, जिसके खिलाफ आज भी सैकड़ों अपराधों के मामले अदालत में लम्बित है, वह आज जनता पार्टी का सम्मानित एम० ए० बन गया। चाहे वह इन्टक का हो या जनता पार्टी का, इन माफिया नेताओं के लिए मजदूरों की छोटी-छोटी माँगें उठाने या सरकार अथवा प्रबन्धन के खिलाफ गरमा-गरम भाषण देने में कोई नुकसान नहीं है। चूँकि प्रशासन और कोलियरी प्रबन्धन के साथ इनके संबंध अत्यन्त मधुर हैं, इसलिए कुछ माँगें दिलाकर मजदूरों को अपनी तरफ कर लेना भी मुश्किल नहीं है। इस प्रकार कल तक जो मजदूरों के शत्रु थे, आज मजदूरों के नेता बन बैठे हैं।

1977 के आम चुनाव में कामगार यूनियन के नेता ए० के० राय भारी बहुमत से विजयी हुए थे। यह विजय पिछले एक दशक से चल रहे जुझारू मजदूर आन्दोलन और झारखण्ड आन्दोलन का नतीजा था, लेकिन यह विजय एक युग के अंत का सूचक था। कामगार यूनियन की प्रतिष्ठा और शक्ति अपनी चरम सीमा पर थी। सुदूर गिरीडीह के अभ्रक खदानों, हजारीबाग के कोयला खानों, गोमिया का बालू कारखाना, बोकारो इस्पात कारखाना आदि में कामगार यूनियन और ए० के० राय के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार हुआ। लेकिन इस बढ़ी हुई प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण यूनियन के भीतर अवसरवादिता का भी जन्म हुआ। बहुत से ऐसे नए कार्यकर्ता आए जो संगठन की इस प्रतिष्ठा और ताकत को निजी स्वार्थसिद्धि में इस्तेमाल करने लगे, यानि कामगार यूनियन के अन्दर भी ठेकेदार और रंगदार पनपने लगे। ठोस सांगठनिक अनुशासन नहीं रहने के कारण यूनियन का नेतृत्व इन लोगों पर कोई नियन्त्रण नहीं रख सका। जो लोग रंगदार नहीं भी बने वे संघर्ष के रास्ते से अनजाने ही दूर चले जा रहे थे, क्योंकि अब यूनियन के पास एक एम० पी० (संसद) था—ए० के० राय जैसा बहुत ही योग्य और मुखर एम० पी० (जिसका रिकार्ड है संसद में सबसे अधिक संख्या में प्रश्न पूछने का)। हर एक समस्या एम० पी० की चिन्नी से ही हल होने लगी, या हल हो सकती है। ऐसा महसूस होने लगा कि संघर्ष की जरूरत कम हो गई है।

और फिर संघर्ष का मुद्दा भी तो बदल रहा था। बदली हुई परिस्थिति में ऐसी माँगों को उठाना जो सिर्फ मजदूर ही नहीं बल्कि आम जनता के हितों में हो, वह भूमिका कामगार यूनियन नहीं कर सका। बल्कि यूनियन की सदस्यता बढ़ाने के लिए छुट्टी, बदली और पदोन्नति आदि के जो पांग कांग्रेसी और जनता पार्टी के तथाकथित मजदूर नेता जोर-शोर से उठाने लगे थे, कामगार यूनियन भी उसी होड़ में शामिल हो गया। इसी का अन्तिम नतीजा है बेटा बहाली की माँग यानि कोलियरी मजदूर के आश्रितों को नौकरी की माँग।

दुर्भाग्य की बात है कि अपनी जनप्रियता खोने के डर से कामगार यूनियन जैसा एक प्रगतिशील वामपन्थी संगठन भी इस प्रतिक्रियाशील माँग को समर्थन दे रहा है। बेटा बहाली एक ऐसी माँग है कि जिसने कांग्रेस, जनता पार्टी और कामगार यूनियन को एक कर दिया है। आज सभी टूटे यूनियनों का सम्मिलित आन्दोलन चल रहा है आश्रितों को नौकरी को सवाल पर।

इधर भारखण्डी जनता भी पीछे नहीं है। बेरोजगारी की भीषण समस्या उन्हें भी तबाह कर रही है। इसलिए दिशाहीन भारखण्डी जनता के बीच से माँग उठ रही है—

स्थानीय लोगों को नौकरी चाहिए। यह माँग सिर्फ भारखण्ड मुक्ति मोर्चा ही नहीं बल्कि भारतीय जनता पार्टी जैसा दल भी उठा रहा है। आखिर सस्ती लोकप्रियता हासिल करना चुनाव जीतने का एक आसान तरीका तो है न? नतीजा यह हुआ कि भूमि के पुत्र और आश्रितों के पुत्र आज एक दूसरे के खिलाफ खड़े हो गए हैं। धनवाद में लाल भण्डा और हरा भण्डा आज एक दूसरे के सहयोगी नहीं बल्कि विरोधी बन गए हैं। क्या इसी तरह भारखण्ड आन्दोलन या मजदूर आन्दोलन को सफलता मिलेगी? ईमानदार और जागरूक प्रतिबद्ध लोगों के सामने आज यह एक विचारनीय प्रश्न है।



कोयला खदानों में धूल से खतरा

अमलेन्द्र दास

पिछले दस सालों के विश्व ऊर्जा संकट के कारण कोयला के उत्पादन में तेजी आयी है। फलस्वरूप अंधाधुंध बड़े पैमाने पर मशीनीकरण कार्यक्रम चालू किये गये हैं। इनका खदान मजदूरों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा है। धनवाद के सेन्ट्रल फ्युयल रिसार्च इन्स्टिट्यूट के विज्ञानी श्री अमलेन्द्र दास ने इस लेख में कुछ स्वास्थ्य जोखिमों पर प्रकाश डाला है। कोलियरी मजदूर आन्दोलन के कार्यकर्ताओं से हम आग्रह करते हैं कि इस गंभीर समस्या के बारे में अपने विचार और अनुभव 'भारखण्ड दर्शन' के पाठकों के सामने रखें।

हाल में हमारे राष्ट्रीयकृत कोयला उद्योग के प्रबन्धन ने कोयला का उत्पादन बढ़ाने पर काफी जोर दिया है। इस उद्देश्य से विदेशों से प्राप्त टेक्नोलॉजी की मदद से बड़े पैमाने पर मशीनीकरण शुरू किया गया है। टूटे यूनियनों की ओर से आलोचकों ने इस आन्धाधुन्ध मशीनीकरण को इस योजना की त्रुटियों का ठीक से समझा है। उनकी

आलोचना के मुख्य बिन्दू ये हैं : मशीनीकरण से रोजगारों की सृष्टि नहीं होती है, बल्कि खर्च बढ़ जाते हैं और इस तरह उद्योग के बड़े होने से होनेवाले लाभ गायब हो जाते हैं, और पुर्जों के लिए विदेश पर निर्भरता होती है। लेकिन सभी संबंधित पक्षों ने इसके एक महत्वपूर्ण नतीजे पर ध्यान नहीं दिया है, जो शायद सबसे महत्वपूर्ण बात है।

वह है, स्वास्थ्य पर असर डालनेवाले खतरे, जो भयंकर गति से बढ़ते जा रहे हैं।

यह सच है कि भारत में कोयला खदान और जोखिम के बीच गहरा संबंध रहा है। आज भी कोयला खदान मजदूरों को घातक दुर्घटनाओं के खतरे का उतना ही सामना करना पड़ रहा है, जितना राष्ट्रीयकरण के पहले—जैसे चासनाला (1975), जीतपुर (1978) और हरलाडीह (1983) की दुर्घटनाएँ। आधुनिक मशीनों के बेटाये जाने से ऐसी दुर्घटनाओं की सम्भावना में कोई कमी नहीं आयी है। पर वह अलग बात है। यहाँ पर हम आपका ध्यान उस किस्म की जोखिमों की तरफ खींचना चाहेंगे जो धीरे-धीरे खदान मजदूरों के जीवन-काल को लगातार कम करती जाती हैं या बड़ी दुर्घटना न होने के बावजूद उन्हें विकलांग बना देती हैं।

काला फेफड़ा

ऐसे तो मूलतः कोयला खदानों में काम करना खुद ही स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। भूमिगत खदानों में ही नहीं, बल्कि खुली खदानों में भी, जहाँ बहुत बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग होता है, मजदूर भारी मात्रा में धूल, धुआँ, और गैस साँस के साथ अन्दर लेते हैं। इनसे कई घातक बीमारियाँ होती हैं—ज्यादातर साँस की बीमारियाँ। इनमें दमा, ब्रोंकायटिस, एम्फीसेमा, फ्लू, उच्चरक्तचाप, पेट एवं फेफड़े का कैंसर और काला फेफड़ा (ब्लैक लंग) जैसे रोग आते हैं। इन सब साँस की बीमारियों में सबसे घातक है काला फेफड़ा रोग, जो लाइलाज है। यह रोग साँस के साथ भीतर जानेवाली कोयले की धूल के साथ फेफड़े में जाने और भीतर बैठ जाने के कारण होता है। लगभग दस साल धूल साँस लेते-छेते फेफड़ों पर धूल की मात्रा का असर स्पष्ट होने लगता है। एक्स-रे द्वारा यह पता लगाया जाता है कि कोयला मजदूर की काले फेफड़े की बीमारी किस स्तर पर है—हल्का है या बीच की स्थिति में है या गम्भीर है। लगातार धूल के असर से हल्का काला फेफड़ा तेजी से गम्भीर हो जाता है।

जिन खदान मजदूरों को कमवर्द्धमान भारी तंतुशोथ हो जाता है, वह पूरी तरह पंगु बन जाते हैं। अगर धूल की मात्रा ज्यादा हो, तो काला फेफड़ा रोग अधिक जल्दी हो जाता है। कुछ खदान मजदूर आसानी से इस रोग के शिकार बन जाते हैं, जिसका कारण अभी तक पता नहीं चला है। धूम्रपान से काला फेफड़ा रोग होने की सम्भावना बढ़ती नहीं है। इससे फेफड़ों का नुकसान तो जरूर होता है, लेकिन वैसे ही जैसे गैर-खदान मजदूरों को इससे नुकसान होता है। यह तो लगभग साबित हो चुका है कि धूल (चाहे कोयले की धूल हो या कोई दूसरी धूल) से ही खदान मजदूरों को काला फेफड़ा रोग होता है। इसीलिए धूल सबसे बड़ी जोखिम है।

हवा में धूल बारीक कणों के रूप में मौजूद है। वह विविध औद्योगिक गतिविधियों के दौरान पैदा होती है, जैसे कि ब्लास्टिंग, ग्राइंडिंग, और कशिंग के दौरान। धूल की मात्रा को बढ़ाने वाली क्रियाएँ कोयला खदान उद्योग में आम हैं। जैसे-जैसे कोयला या मिट्टी लगातार टूटती जाती है, और धूल का रूप धारण कर लेती है, वैसे-वैसे वह वहाँ काम करनेवाले मजदूरों के लिए घातक बन जाती है। धूल कणों का आकार बहुत ही छोटा (0.2-10.2 माइक्रॉन) होने के कारण उसकी हमारे शरीर के ऊपर प्रतिक्रिया करने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। जैसे ही ये कण हवा में तेरने लगते हैं, उनको मौजूदा तकनीकी साधनों से पकड़ना या निकाल बाहर करना असम्भव हो जाता है। अनुमान लगाया जाता है कि एक घन मीटर कोयला का ढेला लगातार टूटते-टूटते उसके 10,00,00,00,00,000, कण बन जाते हैं जो फिर करीब 28 करो घन सेंटीमीटर क्षेत्र में फैल जाते हैं। उनके बारीक आकार के कारण ये धूल कण जमीन पर नहीं बैठते और हवा में काफी देर तक लटके रहते हैं।

अर्थात् यह स्वाभाविक ही है कि मशीनों से चलने-वाली खदानों में तरह-तरह के कामों से न केवल ज्यादा धूल पैदा होती है, बल्कि अधिक बारीक कण पैदा होते हैं।

और ये सूक्ष्म कण ही ज्यादा खतरनाक होते हैं। वैज्ञानिकों ने अंदाज लगाया है कि ये कण फेफड़े की थैलियों में जम जाते हैं; उनका वजन 5 माइक्रोग्राम से कम होता है और इन कणों को साँस के साथ भीतर जानेवाली धूल कहा जाता है।

अधिक बड़े कण फेफड़ों की हवा की थैलियों में घुस नहीं पाते हैं, और यह समझ बनी है कि इनसे काला फेफड़ा नहीं होता। साँस के साथ फेफड़ों के भीतर जा सकनेवाली धूलों और भीतर न जा सकनेवाली धूलों के बीच का मेद वंशानिक दृष्टि से सही है। यह बात स्पष्ट है कि दोनों ही प्रकार की धूलें लम्बे समय तक साँस ली जाये तो फेफड़ों के काम में बाधा हो सकती है। अधिक बड़े कणों का संबंध शायद खदान मजदूरों को होनेवाले ब्रोंकायटिस रोग से है। हालांकि ये कण फेफड़ों में रह नहीं जाते फिर भी काम के वक्त लगातार इन धूल-कणों को साँस लेने से ऊपरी साँस नली में जलन होती है। एक्स-रे द्वारा काला फेफड़ा बीमारी न रहने का पता चलने के बावजूद मजदूरों की साँस फूल सकती है। शोधकर्त्ताओं का मन है कि यह साँस फूलना कुछ फेफड़े के रोंगों से संबंधित है। कुछ शोधकर्त्ताओं ने पता लगाया है कि काला फेफड़ा और ब्रॉन्को-पल्मनरी रोग के अलावा ऐसी भी कुछ अनिर्धारित बीमारियाँ रहती हैं जो फेफड़े की साँस लेने की क्षमता कम करती हैं।

काला फेफड़ा रोग नाम से अब खदान मजदूरों के काम से संबंधित साँस की कई बीमारियों को पहचाना जाता है, जिनमें काला फेफड़ा एक प्रमुख रोग है। साँस के साथ अन्दर जानेवाली धूल को नंगी आँखों से देखा नहीं जा सकता है। यह कोयला खदान में मौजूद धूल के 1% से भी कम होती है। साँस के साथ अन्दर लो जा सकनेवाली धूल के मानदण्डों (अगर कोई मानदण्ड हो तो) का पालन जहाँ होता है, ऐसी खदानों में भी कितनी ऐसी धूल, जो फेफड़ों के अन्दर जमी नहीं रहती, है साँस ली जाती है, यह स्पष्ट नहीं है।

जोखिमकारी तत्वों

काला फेफड़ा के साथ-साथ कोयला खदान मजदूरों को अन्य कई बीमारियों से भोगना पड़ता है, जैसे ब्रोंकायटिस, डिप्थीरिया (साँस फूलना) और साँस नली में अवरोध। इनमें से कई बीमारियाँ काम से संबंधित हैं। कोयला खदान की धूलों में कोयले की धूल के अलावा अन्य कई धूलें भी होती हैं, जैसे बालू और नैफथालीन की धूलें। कुछ शोधकर्त्ताओं ने जिन साँस के साथ अन्दर ली जा सकनेवाली धूलों की जाँच की है, उनमें उन्होंने 13 पॉलिन्यूक्लीयर ऐरोमैटिक हायड्रोकार्बन पाये हैं। इनके और कैंसर के बीच संबंध साबित हो चुका है। ऊपर, अल्पमात्रा में पाये जानेवाले जिन तत्वों का जिक्र हुआ है, उनके अलावा भी कई तत्व पाये जाते हैं जो जोखिमकारी तत्वों की सूची में शामिल हैं। जहाँ फेस से कोयला काटा जाता है वहाँ ये तत्व धूल या गैस के रूप में निकलते हैं। ये तत्व हैं, संखिया, बेरिलियम, कैडमियम, फ्लोरोनिन, सीसा और पारा। अगर दस लाख टन कोयला उत्पादन होता है, तो ये तत्व एक-एक टन निकलते हैं। इन तत्वों से भी काला फेफड़ा हो सकता है। इनसे पेट और फेफड़े का कैंसर भी हो सकता है जो खदान मजदूरों में अधिक पाया जाता है।

सामान्य तौर पर देश भर में मशीनीकृत खदानों में डीजल पर चलनेवाली मशीनें चलती हैं। डीजल इंजिनों से जोखिमकारी गैस निकलते हैं, जैसे अनजले हायड्रोकार्बन, नाइट्रोजन के ऑक्साइड आदि जिनमें से कई शरीर की श्वास प्रणाली पर बुरा असर डालते हैं।

मशीनीकृत खदानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए शोर एक जोखिम साबित हो चुकी है। शोर से हमेशा के लिए या कुछ समय तक सुनने की क्षमता खो सकती है, शारीरिक एवं मानसिक बीमारियाँ हो सकती हैं, बोलने की क्षमता कम हो सकती है, और काम करने की क्षमता खो सकती है। अत्यधिक शोर से हृदय, ग्रंथि और स्नायु प्रभावित होते हैं। शोधों से यह पता चला है कि खदान मजदूरों की सुनने की ताकत औसत से बहुत कम है।

काला फेफड़ा एवं अन्य काम से संबंधित रोग अब अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे देशों में खोज के प्रमुख विषय बन चुके हैं। मजदूरों द्वारा लगातार किये गये संघर्षों के फलस्वरूप यह सम्भव हुआ। एक डाक्टर लॉरिन केर्ने ने जो अमेरिका के कोयला खदान मजदूरों के प्रतिनिधि भी है, काले फेफड़े के बारे में इन शब्दों में चिंता प्रकट की है :—

“काम के वक्त आप (कोयला खदान मजदूर) धूल से ढँके रहते हैं। वह आपके बालों, कपड़ों और चमड़े पर जमी रहती है। आपकी आँखों के घेरे पर इसकी परत जमी हुई रहती है। यह आपके दातों के बीच चली जाती है, और आप इसे निगल लेते हैं। आप इतनी धूल अपने फेफड़ों में सोख लेते हैं कि मरते दम तक आप कोयले की धूल खँखरते रहते हैं। आप में से कुछेक तो इतने जोरों से खाँखते रहते हैं कि आप ही को आश्चर्य लगता है कि आपका फेफड़ा अबतक साबुत बचा है। धीरे-धीरे आपको ध्यान होने लगता है कि आप जब कोई ऊँची जगह पर चढ़ रहे होते हैं तो आपकी साँस फूलने लगती है। काम के वक्त साँस लेने के लिए ज्यादा बार रुका करते हैं। आपकी साँस इतनी बुरी तरह फूलने लगती है कि आखिर में घर में चलना-फिरना भी मुश्किल हो जाता है।”

मजदूरों के स्वास्थ्य की स्थिति

हमारे खदान मजदूरों के लिए ऑसू बहाने के लिए हमारे पास कोई डॉ॰ केर्ने नहीं है। हमारे खदान मजदूर ऐसे घातक रोग के बारे में जानते तक नहीं हैं। शुरुआत में शक्तिशाली एक्स-रे को छोड़कर और किसी तरह से काला फेफड़ा रोग का पता लगाना कठिन है। ऐसी चिकित्सा की सुविधा हमारे खदान अस्पतालों में नहीं है। अर्थात् जिन खदान मजदूरों को साँस फूलने की बीमारी होती है, उनका कई बार गलत इलाज किया जाता है।

लेखक ने भरिया कोयला-क्षेत्र में कई ऐसे उदाहरण देखे हैं। दमोदा खदान के कृपाल का टी॰ बी॰ की बीमारी के लिए इलाज हो रहा है, क्योंकि उसे साँस फूलने की बीमारी है। कृपाल को बताया गया कि टी॰ बी॰ को ठीक किया जा सकता है। अब वह इस चिन्ता में है कि दवाइयों से उसकी बीमारी ठीक क्यों नहीं हो रही है। कंदवाड़ी खदान के एक मजदूर चनारी बेलदार की दो साल पहले टी॰ बी॰ से मृत्यु हुई। साँस फूलने की समस्या जब चालू हुई तो चनारी हफ्ते में एक या दो दिन काम से छुट्टी लेने लगा। काम में लापरवाही बरतने के आरोप में उसे चार्जशीट और वार्निंग लेटर मिले। किसी ने भी उसकी बीमारी और गैरहाजिर के कारणों के बारे में पूछा तक नहीं।

हम साँस फूलना और काला फेफड़ा रोग के अन्य लक्षणों से पीड़ित खदान मजदूरों की ठीक-ठीक संख्या तो नहीं जानते हैं, पर यह संख्या कम नहीं है। जहाँ धूल नियंत्रण की ज्यादा असरदार पद्धतियाँ मौजूद हैं, और लोग ऐसी बीमारियों के बारे में ज्यादा जानकारी रखते हैं, उन देशों में भी काला फेफड़ा रोग से बीमार खदान मजदूरों की संख्या बहुत ज्यादा है। अन्दाज है कि जनवरी 1970 और दिसम्बर 1977 के बीच अमेरिका में 4,20,000 खदान मजदूरों को काला फेफड़ा रोग के कारण पूरी तरह लाचार होने की वजह से सरकार से काला फेफड़ा मुआवजा प्राप्त हुआ। इंग्लैण्ड में नेशनल कोल बोर्ड ने 1974-77 के बीच एक सर्वेक्षण किया था जिससे पता चला कि इंग्लैण्ड के 7% कोयला खदान मजदूर काला फेफड़ा रोग से पीड़ित हैं। भारत में मुख्य कारखाना सलाहकार द्वारा किये गये एक छोटे सर्वेक्षण से पता चला कि एक्सरे द्वारा जाँच किये गये 2754 में से 178 मजदूर काला फेफड़ा रोग से पीड़ित थे। 1964 में डॉ॰ विश्वनाथ द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण से पता चला कि काला फेफड़ा रोग का प्रतिशत 6% और 18% के बीच है। भारत में स्थिति चिन्ताजनक है।

पिछले दशक में पेट्रोलियम उत्पादों के दामों में वृद्धि के कारण एक विश्व ऊर्जा-संकट पैदा हुआ था

और इसके कारण कोयला फिर से एक महत्वपूर्ण विकल्प के रूप में सामने आया। आखिरकार कोयला उत्पादन की मात्रा बढ़ायी गयी, विदेशों से लायी गयी टेक्नोलॉजी के जरिये खदानों को मशीनीकृत किया गया, जिसके लिए बँधे खचों के रूप में विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ी। एक बात जो सुविधानुसार भुलायी गयी, वह थी पर्यावरण पर इसके असर की सम्भावना।

खदान मजदूरों के स्वास्थ्य और कल्याण के हित में खदान सुरक्षा के जरूरी कानून नहीं है। लगता है कि खदान

मजदूरों के स्वास्थ्य और कल्याण के विषय खदान सुरक्षा से अलग विषय के रूप में अबतक नहीं माना गया है। यह भी दुःख की बात है कि प्रतिष्ठित ट्रेड यूनियन जो संघर्षशील भी है, आर्थिक माँगों के लिए लड़ते हुए इस अदृश्य राक्षस को पहचान नहीं सके हैं, और घुल रूपी यह अदृश्य राक्षस धीरे-धीरे, छिप-छिपाकर आगे बढ़ता हुआ खदान मजदूरों पर हमला करता जाता है। अब सवाल है—इसे रोकेगा कौन ?



क हानी

पीले पत्ते

पशुपति जोंको

अभी अभी वह जंगल से लौटा था। पन्द्रह वर्षीय चेहरे पर थकान की रेखाएँ उभर आई थीं। कंधे से मोटी लकड़ी का बोझ उतार दिया और बैठकर सुस्ताने लगा। थोड़ी देर बाद वह उठा और नदी की ओर चल दिया।

जंगल जाना इन दिनों उसकी दिनचर्या बन गई थी। जब से हाई स्कूल की पढ़ाई छूट गई तभी से खुद को व्यस्त रखने के लिए वह जंगलों में घूमता था। यह खालीपन उसे अस्थिर बनाये हुए था। उसे कुछ करने की इच्छा थी। इस बारे में अभी तक कोई स्पष्ट राय नहीं बना सका था। इतनी उधेड़ बुन में प्रायः वह आनन्दपुर में लगने वाली साप्ताहिक हाट में आता था। यह हाट यद्यपि आम गाँवों में लगने वाले हाटों की तरह ही था लेकिन इसकी विशेषता यही थी कि पूरे दस मील के दायरे में लगने वाले हाटों में यह सबसे बड़ा समझा जाता था।

वैसे भी आदिवासियों के लिए हाट का उनके सामाजिक जीवन में विशेष महत्व है। क्योंकि यह मात्र सामानों की खरीद-बिक्री का केन्द्र नहीं, बल्कि अनेक युवक-युवतियों का मिलनस्थल भी है। यह स्थल उन्हें अपने मनपसन्द जीवन साथी को चुनने का अवसर भी प्रदान करता है।

माटा—सभी लोग उसे उसी नाम से पुकारते थे। वह आज हाट आया हुआ था कि उसे बगल के गाँव का सोमा नजर आया। वह तपाक से उसके पास गया और बोला “जोहार सोमा! बहुत दिन के बाद दिखाई दे रहे हो। क्या बात है?”

सोमा ने बड़े उत्साह से जोहार का जवाब दिया और कहा, “कुछ दिनों के लिए मैं दूसरे गाँवों में जाता था, मजदूरी करने के लिए। धानकटनी का समय है न, इसीलिए। इस सप्ताह थोड़ी-बहुत कमाई कर ली है

इसलिए आज कुछ सामान खरीदने के लिए आ गया। अरे! मैं तो यह पूछना ही भूल गया कि आज कल क्या करते हो? पढ़ाई तो छूट गई। अब क्या मुंशीगिरी करोगे?

“क्या करें? यही तो समझ में नहीं आ रहा है।” परेशानी से भरा जवाब उसने दिया, “फिर भी कुछ तो करना ही होगा।” यह कहते हुए वह आगे बढ़ गया।

धान-कटनी का समय कब का बीत चुका था। माटा अब भी तय नहीं कर पाया था कि उसे क्या करना चाहिए। वह चिंतित था कि इस साल ठीक से बारिश नहीं हुई इसलिए धान इतना कम हुआ है कि उसके भरोसे पूरा वर्ष गुजरा नहीं जा सकता है। ऐसी हालत में वह अपनी पढ़ाई भी फिर से जारी नहीं कर सकता है। मन ही मन सोचने लगा—अगर उसे कहीं भी, कुछ भी काम मिल जाये तो बड़ा अच्छा होगा। कम से कम दो समय का खाना तो जुगाड़ हो जायेगा। लेकिन काम खोजा जाये तो कहाँ? एक बार तो सोचा कि राऊरकेला चला जाये। लेकिन उसके पास वहाँ रहने और खाने लायक पैसा भी तो नहीं है। और फिर एक ही दिन में काम मिल जायगा ऐसा तो नहीं लगता है। कम से कम सप्ताह दो सप्ताह तक तो वहाँ ठहरना ही होगा। इतने दिन ठहरने के लिए वह पैसा कहाँ से लायेगा? उसका यह सवाल अनुत्तरित ही रह गया।

समय किसी तरह गुजर रहा था। किसी-किसी दिन जंगल से खरगोश आदि मार कर लाता था। शिकार नहीं मिलने पर वह कन्द-मूल खोद कर ले आता, जिसे उबालकर नमक के साथ परिवार के लोग खा लिया करते थे। इस तरह का अभावग्रस्त जीवन उसके लिए नई बात नहीं थी। परन्तु कुछ करने के विचार ने उसके मन में इन चीजों के प्रति अनिच्छा पैदा कर दी थी। वह सदा चिंतामग्न रहने लगा, मानो उस पर असमय ही भारी बोझ डाल दिया गया हो।

एक दिन उसे पता चला कि पास के टेन्डराऊली गाँव से कुछ लोग ‘नालापैटी’ के लिए बाहर जाने वाले हैं।

उसे तुरंत ही सोमा की याद आई जो उसी गाँव में रहता था। दूसरे ही दिन वह सोमा से मिला और पूछत छ किया। सोमा का कहना था कि—“हाँ। यहाँ से कुछ लोग जाने वाले हैं—लगभग बारह आदमी।” सोमा स्वयं भी जा रहा है, अपने पूरे परिवार के साथ यानि उसकी पत्नी रांगा कुई और दो साल का नन्हा डोलो। यह निर्णय सोमा ने भी कई रात फाका करने के बाद लिया था। ‘उस’ अजनबी आदमी ने उन सभी लोगों को अपने ही खर्चे पर इतनी दूर लेकर उन्हें काम दिलाने का वादा भी तो किया था। आखिर ‘खाय कमाय ला’ की भावना लेकर माटा भी उस काफिले के साथ हो लिया।

अपनी मंजिल से अनजान यह काफिला अपने सफर के शुरू में एक ट्रक पर सवार हुआ। रास्ते में माटा ने देखा कि ट्रक अनेक स्थानों में रुक जाती थी और वहाँ एक अन्य काफिला भी उस ट्रक में लद जाता था। इसी प्रकार लोगों की भीड़ बढ़ती ही गई। उसे मालूम भी न हुआ कि अन्तिम काफिला किस जगह ट्रक में सवार हुआ। वह रास्ते भर सोचता रहा अपने बारे में, तो कभी उनके बारे में, जो उसके साथ ही थे, मगर बिल्कुल अनजान। वह उनसे कुछ पूछना ही चाहता था कि ट्रक भटके में रुक गई। उन्हें उतरने के लिए कहा गया। वह भी चुपचाप उतर गया। बताया गया कि उन्हें वहाँ रात-भर रुकना है।

दूसरे दिन सुबह उसने देखा कि सोमा और उसका परिवार नहीं है। किसी से पूछने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। साथी से बिछुड़ने का दुःख वह हमेशा की तरह पी गया। उसे कुछ व्यक्तियों के साथ जाने के लिए बोला गया तो वह चुपचाप उनके पीछे हो लिया। वे सभी उस अजनबी के साथ एक ट्रैन में सवार हो गए। ट्रैन में वह काफी चिंतामग्न होकर सोचने लगा। वह समझ नहीं पा रहा था कि उसके साथ अच्छा हा रहा है या बुरा। उसका ध्यान उस समय टूटा जब उसे उतरने के लिए कहा गया। यहाँ उसे एक सरदारजी ने अपने साथ आने के लिए कहा। यंत्रवत् वह उसके पीछे जाने लगा। इस

वक्त उसने महसूस किया कि वह एकदम अकेला है। अपने घर से बहुत दूर, किसी अनजान प्रदेश में।

यहाँ उसे खेत में जोत दिया गया। खाने के लिए उसे कुछ रोटियाँ और थोड़ा-सा गुड़ मिल जाता था। उसे कठोर शब्दों में समझाया गया, “तुम्हें यहाँ सिर्फ काम करने के लिए लाया गया है, खिलाने के लिए नहीं, इसलिए सिर्फ काम करो। अगर भागने की कोशिश की तो समझ लो कि गरदन साफ।”

माटा के लिए यह बात जितनी नई थी उतनी ही बुरी। वह अपने को असहाय समझ रहा था, उसकी जुबान में ‘न’ शब्द ही नहीं था। सिर्फ उसका दिल ही जानता था कि किस मनःस्थिति में इन परिस्थितियों को स्वीकार किया था।

महीनों तक लगातार कठोर शारीरिक मेहनत और मानसिक घुटन से माटा का बदन ऐसा दिखने लगा मानों उसके जिस्म से सारा खून निचोड़ लिया गया हो। उसका आबनूसी रंग पीले मिट्टी का सा हो गया था। दिन में तो वह अपना शरीर खेतों में गला देता, लेकिन रात में उसकी कल्पनाएँ छोटानागपुर की पहाड़ियों की ओर भागती थीं। उस उन्मुक्त वन-उपत्यका में विचरती थीं जहाँ से वह दूर हो गया था।

वह उस कड़वे यथार्थ को भुगत रहा था, उस दर्द को पाल रहा था। इस पूरी प्रक्रिया को वह किसी परिभाषा में बान्ध नहीं पा रहा था, जिसमें उसका भविष्य उलझ कर रह गया था। उसकी इच्छाएँ दबी हुई सिसक रही थीं, उनकी दबी आवाज मुक्त होने की कल्पना का बीज संजोए हुई थी। यह बीज स्वतःस्फूर्त उसी तरह उग आया था जिस तरह शाल के वनों में बरसात के मौसम में रंग-विरंगे छत्तू (कुकुरमुत्ते) उग आते हैं।

पिछली कई रातों में उसने अनेक बार अपने निर्णय बदले। उसको दबी इच्छाओं ने शरीर पर जोर लगाया और उस रात जब मूसलाधार बारिश हो रही थी और लोग अपनी चहार दिवारियों में दुबके हुए थे, एक काली छाया भींगते हुए भागी जा रही थी। लगा कि खेत के मेड़

उसे रोक नहीं पा रहे थे और वर्षा तो मानों उसे वहाँ ले जाने को आतुर हो।

आगे सिर्फ अंधेरा था, घुप्प अंधेरा। फिर भी वह चलता रहा, कभी गिरता हुआ तो कभी लड़खड़ाता हुआ। मीलों तक का सफर ऐसे ही अन्तहीन-सा चलता रहा। दूर आसमान में सूर्योदय की लालिमा नजर आने लगी तो राहत की साँस लेते हुए माटा ने सोचा—कैद से तो मुक्त हुए लेकिन न जाने किस बियाबान में पहुँच गए ?

थकान से चूर होकर वह एक जगह सुस्ताने के लिए बैठ गया और एक पोटली निकाला—दो रोटियाँ थीं और थोड़ा सा गुड़ भी। वह धीरे-धीरे चबाने लगा, चैन की साँस ली। मानो शक्ति का संचार हुआ हो। रुकना खतरे से खाली नहीं था, सो जोर लगा कर धीरे-धीरे चलना शुरू किया। घंटों तक चलने के बाद उसे रेलवे लाइन नजर आया। वह उसी रास्ते से आगे बढ़ने लगा। कपड़े सूख तो गए लेकिन कीचड़ से सने थे। आँखें धकी थीं मगर उनमें चमक भी थी। दिन के दूसरे पहर तक वह एक छोटे से रेलवे स्टेशन में पहुँचा। जेब में कुछ रुपये थे, उसने भरपेट खाया। काफी इन्तजार के बाद एक पैसेन्जर गाड़ी आई तो वह बिना टिकट ही सवार हो गया।

उसका हुलिया ऐसा बदतर हो गया था जैसे कोई भिखारी हो। एक कोने में दुबक कर बैठा तो उसे थकान के मारे झपकी आ गई। उसे खूब गहरी नींद आ गई, लगा कि इसके पहले कभी सोया ही न हो।

रेल के सफाई मजदूरों ने उसे जगाकर भगाया। वह इधर-उधर ताकने लगा मालूम हुआ कि किसी बड़े रेलवे स्टेशन में है। हफ्तों वह एक जगह से दूसरी जगह भटकता रहा। चिथड़ों में लिपटा वक्त के थपड़े खाता हुआ जब वह राजूरकेला स्टेशन में पहुँचा तो खुशी से उसकी आँखें भर आईं, वह रोने लगा। गीली आँखों से वह चारों ओर ताकने लगा और धीरे-धीरे सोचने लगा कि जितनी मेहनत वह उस अनजान प्रदेश में करने को मजबूर हुआ अगर उतनी मेहनत अपनी मरजी से अपने खेतों, जंगलों में ही करे तो क्या जंगल-माता उसे भूख से मरने देगी ?

छौ नाच : भारखंड की एक अनूठी लोक कला

—प्रो० बीणापाणी महतो

विविधताओं से उत्पन्न मनोरम भारखंड में यहाँ के आदिवासी साल भर विभिन्न मौसमों के साथ ताल-मेल रखते हुए तरह-तरह के पर्वत्योहार मानते हैं, जैसे—करमा, इंद, छाता, बदना, सोहराई, मकर, ऐखन जात्र, सरहुल आदि और इन त्योहारों के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं गीत और नृत्य—करमा, जावा, कांही, डौंड, सोहराई, ठुसु, भुवांग, नटुवा, जादुर, जेना, जापी, राका, मागे, लहसुना, खेमटा, भूमर, छौ आदि—आदिवासियों के जनजीवन के अभिन्न अंग हैं। इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत है छौ नाच का एक परिचय।

छौ नाच की तीन मुख्य शैलियाँ हैं : मयूरभंज, सरायकेला और मानभूम (पुरुलिया)। सरायकेला और मानभूम शैलियों में मुखौटों का इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन मयूरभंज शैली में मुखौटे नहीं होते हैं। अतीत में मयूरभंज और सरायकेला छौ को राजकीय संरक्षण प्राप्त था, जिससे वे परिष्कृत आधुनिक शैलियों के रूप में विकसित हुईं लेकिन मानभूम शैली में ऐसा रूप-ंतर नहीं हुआ, कई दृष्टियों से अभी भी उसका लोक चरित्र बरकरार है।

छौ की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत-मतांतर हैं। कुछ लोग कहते हैं कि छाई (छटक)—याने स्वाँग अभिनय शब्द से छौ शब्द की उत्पत्ति हुई है। दूसरी तरफ कहा जाता है कि छौ की उत्पत्ति 'छावनी' से हुई है। सैनिक लोग फुरसत के समय अपने मनोरंजन के लिए ढाल और तलवार के साथ नाचते थे और साथ ही आक्रमण और आत्मरक्षा का अभ्यास करते थे। इसी छावनी नाच से 'छौ नाच' की उत्पत्ति हुई। चेहरे के सूक्ष्म हाव-भावों का न होना, मुद्राओं का अभाव, महिलाओं का अंश-ग्रहण

न होना और शरीर के अंगों व धड़ की गतिविधियाँ और जोरों की उछल-कूद पर विशेष जोर देना इस नृत्य के फौजी चरित्र को उजागर करते हैं। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार 'छौ' शब्द की व्युत्पत्ति 'छा' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है अन्धाधन। इसलिए यह छौ नाच याने मुखौटा नृत्य के रूप में जाना जाता है। जो भी हो, एक बात पर सब सहमत हैं कि इसका सम्बन्ध आदिवासियों के नृत्यों व रीतियों के साथ है। निश्चय ही पैका, नटुआ, नचनी और आदिवासी युद्ध नृत्यों जैसे कई स्थानीय नृत्यों के सम्मिश्रण से इसे विकसित किया गया है।

चैत्र पर्व के दौरान पालन किये गये भोक्ता अनुष्ठानों से इसका संबंध है। अप्रैल के मध्य में चैत्र संक्रांति के समय औपचारिक ढंग से छौ नाच का उत्सव मनाया जाता है। यह मयूरभंज में चैत्र पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और पुरुलिया में शिव गाजन के नाम से; उस वक्त उन इलाकों में शिव की पूजा की जाती है। भगवान शिव 'छौ नाच' के अधिष्ठाता देवता भी हैं और मयूरभंज में 'भैरव' के रूप में तथा मानभूम छौ में 'अर्द्धनारीश्वर' और 'शिव गाजन' के रूप में शिव की पूजा की जाती है। चैत्र माह के 17 वें दिन से भोक्ता अनुष्ठानों का प्रारंभ होता है। भोक्तागण उस दिन उपवास करते हैं और शिव भक्ति के गीत गाते हैं। संक्रांति (माह का अंतिम दिन) के पहले चार दिन वे चार प्रकार के अनुष्ठान करते हैं—काँटा पाट (काँटों पर चलना, या लोटना), नियाँ पाट (आग पर चलना), झूला पाट या उग्र टपा (आग पर उल्टा लटकना) और उड़ा पाट (जमीन के समानांतर बल्ले के चारों तरफ घूमना)।

भोक्ता गण नृत्य स्थल पर 'जात्रा घट' और 'निशा घट, लाते हैं, जहाँ भोर तक नाच चलता रहता है। सरायकेला में जात्रा घट, मंगल घट, कामना घट, और कालिका घट के अनुष्ठानों का पालन किया जाता है। शांति और समृद्धि के लिए तथा बीमारियों और महामारियों से लोगों को बचाने के लिए ये अनुष्ठान किये जाते हैं।

छौ-नाच की शब्दावली

मयूरभंज छौ में मूलभंगिमा चौक (वर्ग) के नाम से जानी जाती है। इन भंगिमा में कलाकार एक वर्ग बनाने का प्रयास करता है, जिसकी भुजाएँ टखनों से घुटनों तक और घुटनों से कमर तक होती हैं। धरण विधि या शैली होती है, जिसके तीन प्रकार होते हैं—हथियारधरा याने युद्ध के लिए अपनाई गई शैली (तांडव या जोरदार पुरुष शैली), असामरिक नृत्य के लिए कलीभंगा (लस्य या ललित शैली) और हथियारधरा—कलीभंगा याने दोनों स्थितियों का मिश्रित रूप प्रस्तुत करने की शैली। ठाट शैलीकृत गतिविधियों को कहते हैं जो विभिन्न विषय-वस्तुओं को स्पष्ट करती हैं। छः प्रकार के टबके होते हैं—सादा टबका, लहरा टबका (भूमती चाल), डेउ टबका (तरंगित चाल), मोड़ा टबका (बदन को सिकोड़कर लहराना) और उस्का टबका (उछलना)। हर कदम उठाते समय पैरों की उँगलियाँ नीचे की तरफ होती हैं और सिर व पीठ को सीधे तानकर रखा जाता है ताकि शरीर के वजन का संतुलन कायम रखा जा सके। उफुली कही गयी ये चालें प्रकृति से ली गयी हैं और ये आदिवासीयों के परंपरागत दैनिक जीवन के विशेष कृत्यों एवं पशुओं और पक्षियों के चलने-फिरने के चुने हुए ढंगों की शैलीकृत अनुकरण होते हैं। उफुलियाँ 36 प्रकार की होती हैं: खरका (भाड़ देना), गाधोआ (नहाना), सिता फाड़ा (माँग निकालना) हरिणडियाँ (हरिण का कूदना), बग टबका (बगुला के भ्रामक कदम) आदि। अंत में भंगियाँ हैं जिसमें चौक,

धरण, टबका, उफुली और उप-उफुलियाँ आदि शामिल होते हैं। भंगियों का उपयोग मुख्यतः रसोत्पत्ति के लिए किया जाता है। इसी तरह मानभूम शैली में चालें होती हैं, जैसे—बाबू चाल (भद्रव्यक्ति की चल), बीर चाल, असुर चाल और राक्षस चाल, हाथी चाल, भालू चाल, हंस चाल, बानर चाल, मयूर-चाल आदि। इसके अलावा कुछ विशिष्ट चालें होती हैं—हाटपटका (घुटनों पर गिरना), उल्फा (बदन के चारों तरफ चक्कर मारकर तेजी से उठ खड़ा होना, चमक (खड़े होकर या आधा खड़े होकर शरीर को तीन बार हिलाना) आदि। नृत्य की विषय-वस्तु को मेल खाती हुई इन नृत्यतत्वों के उपयोग से भलीभाँति व्यक्त किया जाता है।

नृत्य का प्रस्तुतिकरण

नाच के पहले भूमि पूजा-याने नृत्यस्थल की पूजा की जाती है। तब नृत्य के अधिष्ठाता देवता को आह्वान करने के लिए समर्पणात्मक संगीत रचना का वादन किया जाता है। उसके बाद रंगवाद्य और जड़न होते हैं जिनमें संगीतज्ञ विभिन्न लय-तालों में अपनी कला को प्रदर्शित करते हैं। इसके पश्चात् नृत्य का प्रारंभ होता है, जिसके तीन परंपरागत खंड होते हैं—प्रस्तावना, मुख्य नृत्य और नाटकी (जब गति तेज होते-होते चरम बिंदु पर पहुँचती है)। सरायकेला शैली में भी कमोवेश इसी प्रकार प्रस्तुतिकरण किया जाता है। मानभूम शैली में पहले धुमाल बाजना (नृत्य अधिष्ठाता और अन्य ग्राम देवी-देवताओं के आह्वान के लिए), फिर अखड़ा वंदना (नृत्य स्थल की पूजा), सभावंदना (दर्शकगण का अभिवादन), उड़न बाजना (छौ का प्रारंभ), गणेश वंदना और तब मुख्य नृत्य की विषय वस्तु।

तीनों शैलियों में एकल, युगल और समूह नृत्य होते हैं। जैसे, शिकारी, दण्डी आदि मयूरभंज शैली में और सरायकेला में शवर (शिकारी) मयूर आदि एकल नृत्य होते हैं और आम तौर पर प्रकृति से इनके विषय

वस्तु लिये जाते हैं। मयूरभंज में सागर-संगम, निशीथ मिलन, गीता, होली, दुर्गा, गरुड़-वाहन, तामड़िया कृष्ण आदि; सरायकेला में चन्द्रभागा, राधा-कृष्ण, नाविक, रात्री आदि; तथा मानभूम में महिषासुरमर्दिनी, किरातार्जुन, अभिमन्यु वध आदि समूह नृत्य होते हैं। समूह-नृत्यों के विषय वस्तु महान हिंदू काव्य रामायण, महाभारत और अन्य पुराणों से लिये जाते हैं (अन्य पुराणों को परवर्ती काल में छौ नाच में शामिल किया गया है)। सरायकेला और मयूरभंज में राजाओं तथा राजघराने के अन्य सदस्यों ने इस नृत्य के विकास में काफी दिलचस्पी ली और इस कारण इन शैलियों में परिष्कृत रूप देखे जा सकते हैं। बालकों के प्रशिक्षण के लिए गुरुओं को नियुक्त किया जाता था और अमूर्त विषय वस्तुओं को भी नृत्य पदों में शामिल किया गया था। सरायकेला के राजकुमार शुभेन्दु खुद छौ नाच के एक महान विशेषज्ञ व कलाकार थे। भारत सरकार ने छौ गुरु श्री गंभीर सिंह मुरा और श्री नेपाल महतो (मानभूम) को पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किया है। गुरु श्री अनन्त चरण साह (मयूरभंज) संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, नयी दिल्ली द्वारा सम्मानित किये गये हैं। पहली बार गुरु स्वर्गीय कृष्ण चन्द्र नायक ने मयूरभंज छौ शैली में 'कालीजाई' बेले की रचना की और बाद में उड़ीसा के प्रसिद्ध सूर्य मंदिर पर लोककथा के आधार पर 'कोणार्क' शीर्षक से और फिर "खजुराहो" शीर्षक छौ बेले की नृत्य-रचनाएँ की। छौ-नाच ने फ्रांस, अमेरिका और सोवियत संघ में आयोजित भारत महोत्सवों में भारत का गौरव बढ़ाया है।

ढोल, धमसा और चेड़पेटी

'छौ-नाच' में तीन ताल-वाद्यों (अवनद्य) को बजाया जाता है : ढोल, धमसा और चेड़पेटी। ढोल मुख्य वाद्य

होता है; जिसमें छौ ताल बजाये जाते हैं। धमसा याने नगोड़ा जिसे मोटी लकड़ियों के टुकड़े से बजाकर जोरदार आवाज पैदा की जाती है। चेड़पेटी में दो छोटे-छोटे बाजे होते हैं और बोलों के बीच के अन्तर को भरने के लिए पतली छड़ियों से इन्हें बजाया जाता है। 'छौ धुन' बजाते ने लिए शहनाई और बाँसुरी का उपयोग किया जाता है। शहनाई बहुत शक्तिशाली वाद्ययंत्र होती है और काफी दूरी तक सुनाई पड़ती है। ये सब बाजे आदिवासी बाजे हैं और ये नटुआ, नचनी नृत्य जैसे नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं। तमाम छौ संगीत में भूमर के धुन छाये रहते हैं। कुछ आधुनिक छौ नृत्यों में उड़िया विषय-वस्तुओं के अनुकूल ओडिस्सी धुन का प्रयोग किया गया है। तब भी नाटकी वाले हिस्सों में भूमर धुन का विकल्प निकाला नहीं जा सका। मानभूम शैली में तो अभी तक शुरू से अन्त तक भूमर धुन बजाये जाते हैं। पहले भूमर धुनों का चयन किया जाता है और उसके बाद आवश्यकतानुसार ताल बैठाये जाते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि निश्चित रूप से छौ नृत्य की एक विशिष्ट विधान है। भारखण्ड में छौ के प्रति आकर्षण सार्वत्रिक है। यह आकर्षण इतना गहरा है कि गरीब और अमीर, छोटी और बड़ी जाति के, हर कोई शहनाई की आवाज सुनते ही मंत्रमुग्ध होकर खिंच कर चले आते हैं। गरीब इस नाच को देखते हुए अपने दुखों को भूल जाते हैं। यह भारखण्ड की एकता का सबसे बड़ा प्रतीक है। हर जाति और धर्म के लोग इस में रस लेते हैं। अब तो ब्राह्मण कलाकार भी बनने लगे हैं।



मुंडारी में लिपि, वर्तनी और शब्दरूप की समस्याएँ

—संजय बसु मल्लिक

भारत में मुंडारी भाषा-भाषियों के लिए यह एक दुःखद बात है कि वे ऐतिहासिक अतीत में एक खास जगह पर लंबे अरसे तक बस नहीं पाये थे और उनकी सभ्यता को ऐसी उपयुक्त स्थिति उपलब्ध नहीं हुई कि वे अपनी लिपि विकसित कर पाते और उनकी भाषा का मानकीकरण हो पाता। हालाँकि एस० सी० राय (‘‘मुंडा लोग और उनका देश’’) अनुमान लगाते हैं कि हिंद घाटी में पायी गयी लिपि महान आग्नेय या आस्ट्रो-एशियाटिक सभ्यता की लिपि थी, लेकिन अभी तक उस लिपि का अर्थ निकाला नहीं जा सका है। आग्नेय लोग आयों के दबाव के सामने मुख्यतः इस-लिये टिक सके कि आयों के आगमन के पहले वे तमाम मध्य और उत्तर भारत में फैले हुए थे। लगातार उत्तर और मध्य से पूरव की ओर हटने और पूरव से छोटानागपुर पठार में आने की प्रक्रिया में उनमें से कई लोग अन्य सभ्यताओं में आत्मसात हो गये और बाकी बिखर गये। इस प्रक्रिया में उनकी भाषा की एकता खो गयी और उनकी प्राक्-स्थिति में से कई भाषाएँ और बोलियाँ विकसित हुईं।

मोटा-मोटी तौर पर हम आग्नेय भाषाओं को दो समूहों में बाँट सकते हैं जो आमतौर पर दक्षिणी और उत्तरी मुंडारी के नाम से जाने जाते हैं। लगता है कि दूसरे समूह की भाषाएँ जैसे कोर्कू, संथाली, मुंडारी, हो और कोरवा (अपनी स्पष्ट समानता के चलते) तृलनात्मक रूप से निकट अतीत में एक भाषा से विकसित हुई हैं। मैं आग्नेय भाषाओं की इस शाखा को ‘होड़ो कजि’ के नाम से पुकारने का प्रस्ताव रखता हूँ। भारखंड के आग्नेय समुदाय के लोगों के

वर्तमान अस्मिता आन्दोलन को ध्यान में रखते हुए इस बात पर विचार किया जा सकता है कि निकट भविष्य में होड़ो कजि की पुनर्रचना की संभावना है।

इस परिप्रेक्ष्य से हमें मुंडारी भाषा के मानकीकरण के प्रश्न पर विचार करना चाहिए जो वक्त की माँग बन गयी है, खासकर इसलिए कि आज काफी मात्रा में मुंडारी साहित्य की रचनाएँ सामने आ रही हैं।

मानकीकरण के प्रश्न के साथ तीन समस्याएँ जुड़ी हुई हैं—लिपि और वर्तनी, शब्दरूपों की समस्याएँ।

इस समय मुंडा लोग अपने इलाकों की प्रतिष्ठित लिपियों का इस्तेमाल करते हैं। जैसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा में रहनेवाले समूह क्रमशः बंगाली, हिन्दी-नागरी और उड़िया लिपियों का इस्तेमाल करते हैं। इसके अलावा, इसाई मिशनरों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखने-वाले लोग रोमन लिपि का भी उपयोग करते हैं। पहले कैथी लिपि का भी प्रचलन था। लिपि का स्वरूप संबंधित भाषा के स्वरूप पर निर्भर करता है। चूँकि मुंडारी का स्वरूप भारतीय-आर्य भाषाओं के स्वरूप से भिन्न है इसलिए इन लिपियों से यह उन्मीद नहीं की जा सकती है कि वे मुंडारी भाषा के सभी उच्चारणों का सटीक प्रतिनिधित्व कर पायेंगी। हमें लिपि और वर्तनी की समस्याओं की चर्चा साथ-साथ करनी चाहिए क्योंकि वे एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी रहती हैं।

रोमन लिपि का प्रवेश सबसे पहले इसाई मिशनरियों ने किया और प्रथम मुद्रित मुंडारी पुस्तक, जे० सी० ब्राइटले द्वारा रचित ‘‘मुंडारी प्राइमर’’ उसी लिपि में

लिखी गयी थी। इस लिपि के खास फायदे हैं। इसमें उच्चारणों का मूल्य स्थिर है। इसे पूरी दुनिया में समझा जाता है और छपने एवं टाइप करने में यह सबसे आसान है। लेकिन यह खास मुंडारी उच्चारणों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता है, जैसे—मूर्धन्य अनुनासिक (n̄), तालव्य अनुनासिक (n̄) और कंठ्य अनुनासिक (n̄)। इस समस्या के समाधान के लिए महान हॉफमैन ने कंठ्य अनुनासिक के लिए एक नया अक्षर K का प्रवेश किया और जब इस उच्चारण के बाद कोई स्वर आता है तब वे इस अक्षर को छोड़कर तथाकथित n मुइले (mouille') (n') का उपयोग करते हैं। हॉफमैन के पास मूर्धन्य अनुनासिक के लिए कोई अक्षर नहीं है। अक्सर नीचे बिन्दु द्वारा चिह्नित मूर्धन्य n को एक स्वरभेद चिह्न लगाकर छोड़ दिया जाता है क्योंकि वह केवल त, थ, द, ध के पहले आता है और उसे उसकी स्थिति से पर्याप्त रूप से पहचाना जा सकता है। इसे ठोस तर्क नहीं कहा जा सकता है क्यों कि मूर्धन्य अनुनासिक उच्चारण स्वतंत्र रूप से भी होता है जैसे चेणे (चिड़िया) दाणा (खोजना), नियोणा (बाँधना) आदि।

इसके अलावा, वे रोमन लिपि को मुंडारी लिखने के उपयुक्त बनाने के लिए कई सारे स्वरभेद चिह्नों का उपयोग करते हैं, जैसे अक्षरों के ऊपर चिह्न उन्हें अनुनासिक, दीर्घ या अति ह्रस्व बनाते हैं और अक्षरों के नीचे दिये गये चिह्न उन्हें अवरोधी या मूर्धन्य बनाते हैं। वे मुंडारी में स्वरयंत्रमुखी विरामों की उपस्थिति का उल्लेख नहीं करते हैं और एक ही स्वरभेद चिह्न का उपयोग दोनों अवरोध एवं स्वरयंत्रमुखी विरामों के लिए करते हैं। वैसी हालत में रोमन लिपि के उपयोग के लिए हमलोगों को दो अन्य स्वरभेदचिह्नों का प्रवेश करना होगा, एक स्वतंत्र मूर्धन्य के लिए और दूसरा स्वतंत्र स्वरयंत्रमुखी विरामों के लिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमन लिपि के उपयोग के लिए हमलोगों को लिपि के अलावा सात स्वरभेद चिह्नों और एक नये अक्षर का या उसके बदले अन्य एक स्वर-

भेद चिह्न का इस्तेमाल करना पड़ता है, जो बहुत अधिक जटिल प्रक्रिया लगती है।

मुंडारी के लिए उपयोग के सिलसिले में बंगाली लिपि में भी कई सारी कमियाँ हैं। ये कमियाँ निम्नलिखित हैं।

(1) ह्रस्व स्वर 'अ' का न होना, यह बंगाली में खुल जाता है। इसलिए 'सबकनको' को 'साबाकानाको' लिखना पड़ेगा, 'अ' को लम्बा बनाते हुए, अन्यथा वह 'सोबोकोनोको' पढ़ा जायेगा।

(2) तालव्य अनुनासिक स्वर बंगाली में या तो दंत्य अनुनासिक बन गया है या कंठ्य अनुनासिक।

वर्षणहीन दीर्घोच्चारणीय अक्षरों का अभाव।

(3) अर्द्ध स्वर 'य' का उच्चारण शब्द के प्रारंभ में उपयोग नहीं होता है, अगर इस्तेमाल किया भी जाता है तो वह 'ज' बन जाता है। इसलिए प्रत्यय 'याद' या 'यान' को 'जाद' या 'जान' लिखना पड़ता है।

(4) मूर्धन्य अनुनासिक स्वर का अभाव जो इस लिपि में दंत्य अनुनासिक बन जाता है।

(5) स्वरयंत्रमुखी विराम (?) का अभाव। आम तौर पर इसे सूचित करने के लिए ':' का इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन विशेष बात यह है कि यह स्वरयंत्रमुखी शब्दहीन धक्का (अह) होता है।

(6) कुछ बंगाली व्यंजनों का दोहरा मूल्य होता है, जैसे 'मन' जिसे 'मोन' भी पढ़ा जा सकता है।

हिंदी के लिए प्रयुक्त नागरी लिपि में भी मुंडारी उच्चारणों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करने में कुछ समस्याएँ हैं।

(1) जब दो या दो से अधिक व्यंजन एक के बाद एक आते हैं तब दूसरे या चौथे को बगैर लघु 'अ' के उच्चारण किया जाता है। इसलिए 'नमकनको' उस लिपि में नहीं लिखा जा सकता है। वह 'नमकनको' या बगैर स्वरभेद चिह्न के या आकार जोड़कर 'नामाकानाको' हो जायेगा।

(2) मूर्धन्य तालव्य और कंठ्य ध्वनियों का उपयोग व सही उच्चारण इस लिपि में कम हो गये हैं, जहाँ कि मुंडारी में इनका व्यापक इस्तेमाल होता है।

(3) दीर्घ 'ए' और 'ओ' नहीं हैं।

(4) स्वरयंत्र-मुखी विराम ध्वनि नहीं है।

पिछले करीब 100 वर्षों में अधिकांश मुंडारी भाषा-भाषी लोगों ने देवनागरी लिपि सीखी है। इसके अलावा उसी आग्नेय प्रजाति की अन्य जातियों को भी यह लिपि सुविधित है। छपाई और टाइप करने की सुविधाएँ भी उस लिपि में व्यापक रूप से उपलब्ध हैं। इसके अलावा, विश्व में यही एक सबसे वैज्ञानिक लिपि उपलब्ध है। हालाँकि हिंदी में इसका वर्तमान रूप कुछ हद तक बिगड़ गया है, फिर भी संस्कृत में व्यवहृत इसके शुद्ध रूप में सर्वाधिक मुंडारी ध्वनियों उपलब्ध हैं। इन बातों का ख्याल करते हुए एक प्रशिक्षित भाषाविद् एवं मुंडारी भाषा के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ॰ रामदयाल मुण्डा ने सुझाव दिया है कि संस्कृत के लिए प्रयुक्त देवनागरी लिपि को थोड़े से संशोधन के साथ अपना लिया जाये। जैसे—'२' स्वरमेद चिन्ह स्वरयंत्रमुखी विराम के लिए तथा 'ए' और 'ओ' को दीर्घ बनाने के लिए एक वर्णलोप चिन्ह (")।

19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी बंगाली भाषा की स्पष्ट 4 अलग बोलियाँ थी—राढ़ी, बारेंद्री, बंगाली और कामरूपी। इनमें से वर्तमान मानक लिखित बंगाली भाषा विकसित की गयी है। इस मिसाल को ध्यान में रखते हुए हम मानक लिखित मुंडारी के विकास पर विचार कर सकते हैं, जो न केवल चार मुंडारी बोलियों को—नागुरी, हासदा, तमड़िया और केरा (या तीन, जैसा कि डॉ॰ रामदयाल मुण्डा ने वर्गीकरण किया—चेतन या ऊपर, जिसमें नागुरी और केरा शामिल हैं, ताला, जिसमें हासदा शामिल है और लातर जिसमें तमड़िया शामिल है)—शामिल कर लेगा बल्कि उसमें भविष्य में होड़ो कजि के पुनरुत्थान की क्षमता भी रहेगी। हम यह भी आज्ञा कर सकते हैं कि अन्ततः दक्षिण मुंडारी भी इसके निकट

आ जायेगी लेकिन उसके लिए एक सचेत, उदार और पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टिकोण व सिद्धांत को अपनाना होगा। मानक मुंडारी शब्द-रूपों के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत हैं।

मुंडारी भाषी लोगों के विभिन्न समूहों के भौगोलिक रूप से दूर-दूर स्थित वासस्थानों के कारण हुए अस्वाभाव की अवधि के दौरान मुंडारी भाषा की चार (या तीन) बोलियों में कुछ पुरातन शब्दरूपों में से निकाल कर भिन्न-भिन्न शब्द-रूप विकसित हो गये हैं। अगर हम पुरातन शब्द रूपों को मानक मानते हैं तो ये बोलियों एक दूसरे के करीब आ जायेगी। इस बात का ख्याल करते हुए लिखित मुंडारी में इन पुरातन शब्दों को लिखा जाना चाहिए, न कि उनके रूपांतरों को।

पुरातन	रूपांतर
ओड़ो	ओड़ो ?
गितिज	गिति ?
बाइएर	बायर
बोहो	बो ओ आदि

इसी प्रकार प्रत्ययों के मामले में पुरातन प्रत्ययों को मानक मानना चाहिए।

यान	जान
याद	जाद
अकाद	ताद

इसी दृष्टिकोण से केद + इ + आ और लेद + इ + आ या लेद + आ को केदिया, लेदिया या लेदा लिखना चाहिए कि ? अ, लि ? अ, ल ? नहीं।

निश्चय ही कोई भी भाषा अन्य भाषाओं से शब्दों को ग्रहण करके समृद्ध होती है। मुंडारी ने भी हिंदी, बंगाली और अंग्रेजी से कई शब्द अपनाये हैं। इन शब्दों के रूप का मानकीकरण होना चाहिए।

(1) शब्दों के प्रारम्भ में संयुक्ताक्षर को हटा देना—
स्कूल को इस्कूल लिखा जाना चाहिए, स्थिर को अस्थिर लिखा जाना चाहिए आदि।

(2) मुंडारी में स्वरसंगति के नियम का सख्ती से पालन किया जाता है। इसलिए ओकील को उकील लिखा जाना चाहिए।

(3) मुंडारी पुनरावृत्ति को बर्दास्त नहीं करती है, इसलिए गद्दी को गदी लिखा जाना चाहिए।

मुंडारी में अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति है, इसलिए—
तारीख को तारिकि लिखा जाना चाहिए।

(4) मुंडारी में केवल दंत्य संधर्षी 'स' है, इसलिए श, ष और स को स ही लिखना चाहिए।

(5) मुंडारी में 'ज' और 'फ' जैसी ध्वनियों नहीं हैं वे क्रमशः 'ज' और 'प' हो जाती हैं।

मुंडारी में शब्द घर्षणहीन दीर्घोच्चारणीय (व) के साथ शुरू नहीं होते हैं इसलिए अन्य भाषाओं से लिये गये शब्दों में व के स्थान पर ब (bilabial stop) होना चाहिए।



कुर्मी, नहीं,—कुड़मी आदिवासी हैं

डॉ० विद्याभूषण महतो

27 दिसम्बर 1987 को जुंझका ग्राम (अरसा थाना, पुरुलिया जिला, पश्चिम बंगाल) में आदिवासी कुड़मी समाज और एबोरिजिनल कुड़मी पंच के तत्वावधान में कुड़मियों का एक विशाल सम्मेलन हुआ, जिसमें भार-खण्ड के विभिन्न इलाकों से आये हुए एक लाख से अधिक कुड़मी महतो शामिल हुए थे। अवकाशप्राप्त आइ० ए० एस० अधिकारी श्री ठाकुर दास महतो की अध्यक्षता में सम्पन्न इस सम्मेलन ने दो प्रस्ताव पारित किये।

पहले प्रस्ताव में सम्मेलन ने भारत सरकार से माँग की कि भारखण्ड क्षेत्र के आदिम कुड़मी समुदाय को भारतीय संविधान की धारा 342 के प्रावधानों के अनुसार अनु-सूचित जनजातियों की सूची में शामिल किया जाये।

दूसरे प्रस्ताव में सम्मेलन ने माँग की कि कुड़माली भाषा को बिहार, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा में एक क्षेत्रीय एवं आदिवासी भाषा के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।

कुड़मियों की इन माँगों एवं आन्दोलन की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

हम कौन हैं ?

भारखण्ड के 70 लाख कुड़मी महतो अपनी अस्मिता को प्रतिष्ठित करने के लिए जूझ रहे हैं। इतिहास ने उनके साथ एक क्रूर मजाक किया है। पिछले 50-60 वर्षों के दौरान शासक वर्गों ने उनके खिलाफ ऐसी उत्पीड़नकारी नीतियों चलायी हैं कि एक तरफ वे बिखर कर अपनी पहचान खोने के संकट में पड़ गये हैं और दूसरी तरफ पीड़ित-उत्पीड़ित कुड़मियों को अपने ही परिवेश में पराये जेसे चित्रित करने की कोशिश की गयी है।

कुड़मी कौन हैं, यह स्पष्ट करना तथा पिछले 50-60 वर्षों के इतिहास के धुआँ से उनको निकालकर उनकी अपनी वास्तविक धरातल पर लाकर खड़ा करना न केवल कुड़मियों के लिए, बल्कि खुद भारखण्ड की अस्मिता की प्रतिष्ठा के लिए निहायत जरूरी है।

कुर्मी नहीं, कुड़मी

आम तौर पर 'कुर्मी' या 'कुर्मी महतो' कहकर चिन्हित किये गये भारखण्ड के महतो लोग वास्तव में कुड़मी हैं

और ये उत्तर बिहार या दूसरी जगहों में निवास करने वाले कुर्मियों से बिल्कुल एक भिन्न समुदाय हैं। कुड़मी कुर्मियों की तरह हिंदू समाज की एक जाति नहीं बल्कि एक स्वतंत्र जनजाति हैं; एक आदिवासी जाति है—एक द्रविड़ जनजाति। कुड़मी भारत के मूलवासिदा रहे हैं और हड़प्पा की सभ्यता से उनका ऐतिहासिक सम्बन्ध है।

यहाँ तक कि प्रख्यात भाषाविद् ग्रियर्सन ने भी कहा था कि कुड़मि कुर्मियों से भिन्न हैं एवं कुड़माली एक स्वतंत्र भाषा है।

1913 में आदिवासी अधिसूचित

3 मई 1913 को भारत सरकार की गजट में जारी की गयी एक अधिसूचना में मुंडाओं, उराँवों, संथालों, हो, भूमिजों, खाड़ियाओं, घासियों, गोड़ों, कन्धों, कोरखाओं, माले खरियाओं, पानों और कुड़मियों को जनजातियों घोषित किया गया था।

लेकिन 1931 में भारत सरकार ने कुड़मियों को आदिवासियों की सूची से हटा दिया। यह क्यों और कैसे हुआ?

यह एक साजिश थी। आजादी के आंदोलन के दौरान जहाँ एक तरफ भारतीय एकता और पहचान को स्थापित करने के प्रयास चल रहे थे, दूसरी तरफ जनता को धर्मों और जातियों के घेरे में लाने के भी प्रयास चल रहे थे। हिंदू महासभा अधिकाधिक लोगों का हिंदू धर्म के घेरे में लाने का प्रयास कर रहा था और उसने कुड़मियों को हिंदू बताने—बनाने की ठानी, जबकि कुड़मी एक ब्राह्मणवाद विरोधी स्वतंत्र जनजाति है। दूसरी तरफ उत्तर बिहार और अन्यत्र कुर्मियों का प्रतिनिधित्व करने वाले कुर्मी महासभा ने कुर्मियों की तादाद का अधिक दिखाने के लिए आम कुड़मियों से कटे हुए चंद दिग्भ्रांत एवं सम्पन्न कुड़मियों के माध्यम से कुड़मियों को कुर्मी घोषित किया। उसके बाद कुर्मी महासभा ने 6 नवंबर 1930 को भारत सरकार को एक अर्जी दी कि कुड़मियों को आदिवासियों की सूची से हटाकर क्षत्रिय घोषित कर दिया जाये। और दिखचस्प बात है कि मात्र 12 दिनों के अन्दर, भारत सरकार

ने 18 नवंबर 1930 को कुर्मी महासभा को इस माँग पर अपनी स्वीकृति सूचित कर दी। निश्चय ही 12 दिनों के अन्दर इस माँग की कोई छानबीन संभव नहीं थी। जाहिर है कि खुद अंग्रेज सरकार का भी कुड़मियों को आदिवासियों की सूची से हटाने में निहित स्वार्थ था।

भारखण्ड क्षेत्र में बड़े पैमाने पर खदानों के विकास एवं अन्य औद्योगिक गतिविधियों के घुसपैठ की जमीन बन चुकी थी। भारी पैमाने पर जमीनों का अधिग्रहण जरूरी हो रहा था। कुड़मियों को आदिवासियों की सूची से हटाने से यह काम सरकार और अन्य घुसपैठियों के लिए आसान हो गया, क्योंकि अब छोटानागपुर टेनेन्सी एक्ट कुड़मियों से जमीन हड़पने में बाधक नहीं रहा। इसके अलावा, इस कार्रवाई द्वारा सरकार ने युगों से मित्रतापूर्वक रहने वाले कुड़मियों और अन्य आदिवासियों के बीच एक दरार पैदा कर दिया।

यह एक साजिश थी, जिसके बारे में 99 प्रतिशत कुड़मियों को पता भी नहीं था, जैसा कि खुद अंग्रेज सरकार के एक अधिकारी, बिहार और उड़ीसा में जनगणना अधीक्षक श्री डबल्यू० जी० लेसी, आई० सी० एस० ने कहा था—“इस संदर्भ में शायद सही स्थिति यह है कि उनमें (कुड़मियों में) से कई इसे मानते नहीं हैं।”

1931 के इस निर्णय ने कुड़मियों को किस तरह तबाह कर दिया उसे बताने के पहले हम यह बात स्थापित करना चाहेंगे कि कुड़मी एक आदिवासी समुदाय है।

लोक सभा में केन्द्रीय उप कल्याण मंत्री श्री गिरिधर गोमांग ने अनुसूचित जनजाति में शामिल किये जाने के लिए पाँच आधार बताये—(1) आदिम विशेषता, (2) विशिष्ट संस्कृति, (3) भौगोलिक अलगाव, (4) आम लोगों के साथ जुड़ने में क्लिप्त या उदासीनता और और (5) पिछड़ापन। कुड़मियों से संबंधित निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट करेंगे कि इन आधारों पर कुड़मी समुदाय एक आदिवासी समुदाय है।

भारखण्ड की अन्य जनजातियों की तरह कुड़मियों के गोत्र भी टोटेम याने गणचिन्हों पर आधारित हैं। ये टोटेम

पेड़, पत्त, फल, फूल, पक्षी, जानवर, कीड़े आदि के नाम पर होते हैं।

टोटेमों पर आधारित कुड़मियों के 101 गोत्र हैं— केसरियार, करवार, डुमरियार, बाघबनुवार, कटियार, टिडुआर, चंचमुत्रुआर, हास्तोवार, बंसियार, सांखोवार आदि। संथालों और कुड़मियों के कई गोत्रों में मेल है जैसे—संथालों के हौंसदा कुड़मियों में हौंसतोवार हैं; संथालों में टुडु कुड़मियों में टिडुआर हैं; मुर्मू मुत्रुआर हैं, बेसरा बंसियार हैं आदि। कुड़मियों के इस प्रकार के गोत्र नहीं हैं।

कुड़मी परंपरागत रूप से ब्राह्मणवादी एवं वैदिक आधिपत्य से नफरत करते हैं। अन्य कई आदिवासी समुदायों की तरह कुड़मी ब्राह्मणों का अछूत मानते थे। 1771 में जब इस इलाके में भी अकाल पड़ा था तब कुड़मियों और संथालों ने बंगाली ब्राह्मणों का हाथ का पकाया खाने से इन्कार कर दिया था। आज भी एक कहावत प्रचलित है—“कोल, कुड़मी ओ कोड़ा—वेद शास्त्र छाड़ा”।

विस्तार से जाँच करने पर पता चलेगा कि छोटानागपुर की आदिम जातियों की सभी मौलिक विशेषताएँ कुड़मियों में भी मूलतः मौजूद हैं। मुंडाओं, संथालों और कुड़मियों के कई समान पर्व-त्योहार हैं, जैसे सरहुल, सोहराह, करमा, डुसु आदि। शिव को बूढ़ाबाबा कहकर एक पत्थर की पूजा करने की कुड़मियों प्राचीन परंपरा रही है, लेकिन वे शिव-स्थानों में ब्राह्मण पूजारी नहीं रखते। जब कुड़मी गोहाल पूजा के नाम से शिव की पूजा करते हैं तब उस अवसर पर संथाल दसाई नाच या भुआंग नाच करते हैं।

हिन्दू प्रथाओं से भिन्न, कुड़मियों के अपने अलग और विशिष्ट रीतिरिवाज हैं। जन्म, मृत्यु और विवाह से संबंधित विशेष रस्म हैं। कुड़मियों की परंपरा शवों को जलाने की नहीं, दफनाने की रही है। कुड़मियों की अपनी विशिष्ट एवं समृद्ध भाषा है कुड़माली, जिसका लोक साहित्य, उनकी संस्कृति, विशिष्ट परंपराओं और इतिहास को उजागर करता है। उसी प्रकार कुड़मियों के अपने खास

मेले, नृत्य, गीत (खासकर भूमर), दस्तकारियाँ, ललित कलाएँ, भोजन सामग्री आदि हैं जो उनकी विशिष्ट एवं भिन्न संस्कृति को चिह्नित करती हैं।

कुड़मी बाहर के लोगों से अक्सर अलग रहना पसंद करते हैं। वे शहरों से अक्सर बचकर रहते हुए अपनी संस्कृति में जीना पसंद करते हैं।

लेकिन भारखण्ड की अन्य जातियों की तरह कुड़मियों की संस्कृति, भाषा, अर्थव्यवस्था और जीवन पद्धति पर लगातार प्रहार किये गये। उनकी पहचान मिटाने की हर चंद कोशिश की गयी। उनके इलाके को बाँटकर तीन प्रांतों में डाल दिया गया। हर प्रकार से वंचित एवं भविष्य की आशाओं से भी वंचित कुड़मी जनता पर परायी संस्कृतियों का मुलम्मा चढ़ाकर यह दिखाने की कोशिश की गयी कि कुड़मी तो कुर्मी ही हैं; वे सनातन हिन्दू समाज के शुद्ध हैं, अरे, वे तो बंगाली ही हैं; अरे नहीं वे तो मगही मूल के हैं आदि, आदि। किसी जाति को मिटाने की ऐसी क्रूर दर्दनाक प्रक्रिया शायद ही कहीं देखने को मिलेगी।

इतना ही नहीं। 1931 में आदिवासियों की सूची से हटा दिये जाने के बाद, खदानों, कल-कारखानों, रेल लाइन और सड़कों, बान्धों, एवं शहरों को बसाने के लिए ताबड़ तोड़ उनकी जमीनें छीनी जाने लगीं। कुड़मियों को खेती की जमीनों का 15 प्रतिशत छीन लिया गया। छोटानागपुर टेनेन्सी एक्ट द्वारा जो कुछ संरक्षण अन्य आदिवासियों का प्राप्त था वह भी कुड़मियों को नहीं मिला। आगक्ष्ण की सुविधा भी न होते के कारण उनको नौकरियों में कोई प्राथमिकता नहीं दी गयी। इसका अंदाजा हाल में किये गये इस एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि कलकत्ते में राज्य एवं केन्द्र सरकार के कार्यालयों में क्लर्क एवं उससे ऊपर के पदों में 3,687 संथाल एवं अन्य आदिवासी कार्यरत हैं, उन पदों पर मात्र 37 कुड़मी कार्यरत हैं। जमीनें गयीं, पुनर्वास नहीं किया गया; नौकरियों में कोई प्राथमिकता नहीं दी गयी, सिंचाई की व्यवस्था भी नहीं की गयी, घातक बीमारियों से पीड़ित हो गये।

विडंबना है कि उनके आदिवासी होने की बात देश के लोग नहीं जानते हैं, सो आदिवासियों के प्रति जो भी हमदर्दी दिखायी जाती है उससे वे वंचित हैं।

और सबसे दुर्भाग्य की बात यह है कि उन्हें कई लोग आदिवासियों के शोषकों के रूप में चित्रित करते हैं। विभिन्न तरीकों से कुड़मियों और संथालों में दुश्मनी पैदा करने की कोशिश की गयी है।

युगों पुराना इतिहास इस बात का गवाह है कि कुड़मियों और संथालों (या अन्य आदिवासियों) के बीच में कभी कोई दुश्मनी नहीं रही है। उनके बीच हमेशा सामंजस्य बना रहा। संथाल कुड़मियों को अपना बड़ा भाई मानते हैं। 1931 में बोया गया दुश्मनी का विष बीज जब संथालों और कुड़मियों के बीच विरोधिता पैदा करने में नाकाम रहा तब 1971 में अनुसूचित क्षेत्र अधिनियम लागू किया गया। इसके तहत कुड़मियों की 10 प्रतिशत खेती की जमीनें आदिवासियों को वापसी के नाम पर ले ली गयीं। युगों से साथ रहनेवाले कुड़मियों और संथालों के बीच जमीनों की बिक्री और हस्तांतरण

तो अन्य जगहों की तरह होता ही रहता था; यह हस्तांतरण महाजनों द्वारा जमीन हड़प जैसा हस्तांतरण नहीं था। इस प्रकार कुड़मियों को अनुसूचित जनजाति की सूची से हटाये जाने के बाद भारखण्ड के कुड़मी अपनी 25 प्रतिशत खेती की जमीनें खो दिये।

40 साल बाद, याने 1971 में अपनी निराशाओं से जूझते हुए, जागरूक कुछ लोगों के नेतृत्व में कुड़मी समुदाय ने इस अन्याय का संगठित विरोध करना शुरू किया। मई 1971 में पटना में आयोजित कुर्मी महासभा में यह माँग करते हुए प्रस्ताव पारित किया गया कि कुड़मियों को अनुसूचित जनजाति की सूची में शामिल किया जाये। उसके बाद भारग्राम (1971), राँची (1972), रामगढ़ (1975), चित्रोड़ा (1977), राँची (1978), जमशेदपुर (1979), भारग्राम (1986), रायपुर (1986), सिल्ली (1987), पुरलिया (1987) में आयोजित कुड़मी सम्मेलनों में इस माँग को दुहराया गया।

जो भी हो, कुड़मी अब जग चुके हैं। अब उन्होंने अपने मिटने की नियति को अस्वीकार कर दिया है।



भारखण्ड आन्दोलन—एक नजरिया

देवनाथन्

भारखण्ड आन्दोलन के फिर से तेज होने से कई आशाएँ और आशंकाएँ पैदा हुई हैं। क्षेत्र की जनता में (आदिवासियों और गैर-आदिवासियों दोनों ही में) एक नयी एकता और उम्मीद की भावना जगी है। केन्द्र और संबंधित राज्यों के शासक वर्ग नये उपद्रवग्रस्त इलाके पैदा होने की सम्भावना से चिन्तित हैं। भारखण्ड आन्दोलन के इस नये दौर में मार्क्सवादी-लेनिनवादियों की मौजूदगी से उनकी चिन्ता और भी बढ़ गयी है।

राज्य पुनर्गठन आयोग ने 1950-60 के दशक में भारखण्ड राज्य के गठन के खिलाफ जो निर्णय दिया था, उसके लिए तीन आधार पेश किये थे—

- (1) आदिवासी इस क्षेत्र में अल्पसंख्या में हैं।
- (2) भारखण्ड में कोई एक स्पष्ट सम्पर्क-भाषा नहीं है, और

(3) भारखण्ड राज्य के गठन से पड़ोसी राज्यों का आर्थिक संतुलन बिगड़ जायेगा। निर्णायक कारण तो तीसरा ही रहा होगा, क्योंकि भारखण्ड राज्य के गठन से बिहार, उड़ीसा, प० बंगाल एवं मध्यप्रदेश की राजस्व एवं रोजगार मिलने की स्थितियाँ बिगड़ जायेगी। भारतीय अर्थव्यवस्था और खासकर इन चार राज्यों की अर्थव्यवस्था के लिए भारखण्ड एक भंडार-गृह जैसा है—इससे बहुत कुछ निकाला जा सकता है और उसका अधिकांश हिस्सा वापस देने की कोई जरूरत नहीं है, और खनिजों से समृद्ध इस क्षेत्र में बढ़ते हुए रोजगारों के अवसरों से इन चार राज्यों के नौजवानों के असंतोष को कुछ हद तक कम किया जा सकता है।

एक गलत अवधारणा बहुत प्रचलित है कि भारखण्ड राज्य की मांग एक आदिवासी राज्य की मांग है। अगर ऐसा है तो बहुत आसानी से कहा जा सकता है (जैसा कि राज्य पुनर्गठन आयोग ने कहा था) कि यह मांग मंजूर नहीं हो सकती क्योंकि प्रस्तावित भारखण्ड राज्य में आदिवासी बहुमत में नहीं हैं। आदिवासी (यह शब्द भारखण्ड में ही बना) अब इस क्षेत्र की जनसंख्या में 35% से भी कम हैं। यह निश्चित नहीं है कि वे किस समय बहुमत में थे (अगर कभी थे भी)। लंबे अरसे से इस क्षेत्र के आदिवासियों का संबंध विविध दस्तकार एवं पेशेवर जातियों के साथ सामंजस्यपूर्ण रहा है। इन जातियों को 'सदान' कहा जाता है और अभी इनकी जनसंख्या 50% हैं। इस क्षेत्र में हुए अनेक विद्रोहों में सदानों ने भारी संख्या में भाग लिया था। हालांकि इन सदानों को कई जातियाँ, पड़ोस के मैदानी इलाकों में भी पायी जाती है, फिर भी भारखण्ड की सदान जातियों और उनके अनुरूप बाहरी जातियों के लोगों के बीच बहुत कम संबंध हैं। भारखण्ड की सदान जातियों के लोगों के शादी-ब्याह आपस में ही होते हैं, बाहर की जातियों में नहीं। विवाह सामाजिक संबंधों का एक ठोस संकेतक माना जाता है।

मिश्र संस्कृति

आदिवासियों और सदानों के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंधों के कारण एक मिश्र संस्कृति (और एक समान मनोवैज्ञानिक बनावट) का निर्माण हुआ है। भारखण्ड की यह मिश्र संस्कृति, जिसका मुख्य भाग आदिवासी

संस्कृति है, मैदानी क्षेत्रों की संस्कृति से अलग हैं। सरना धर्म प्रकृतिवाद पर आधारित धर्म है। मैदानी क्षेत्रों से आये धर्मों के साथ इसके आदान-प्रदान होते रहे हैं, चाहे वह हिन्दू धर्म हो या ईसाई धर्म या इस्लाम। आदिवासी और सदान, दोनों ही एक दूसरे के धार्मिक विचारों एवं रीतिरिवाजों में सहभागी होते हैं। नाच-गान के विषय, धुने और लय-ताल काफी कुछ समान है। हालांकि हिन्दू और ईसाई धर्म के अस्वर से सामूहिक नाच को तुच्छ समझा जाने लगा था, लेकिन भारखण्ड आन्दोलन के फिर से तेज होने से सामूहिक नृत्य को फिर से गौरव प्रदान किया जाने लगा है।

क्या इस मिश्र भारखण्डी संस्कृति का ऐसा भौतिक आधार है, जो मैदानी क्षेत्रों के भौतिक आधारों से अलग हो? पहली बात तो यह है कि एक जगह बसकर हल से खेती करने की परम्परा की शुरुआत इस क्षेत्र में मैदानी क्षेत्रों से काफी समय बाद में हुई। यह प्रक्रिया अब भी जारी है—खड़िया जैसी जनजातियाँ शताब्दी की शुरुआत में जाकर पक्के तौर पर बर्सी और कोरवा (पलामू जिले में) जैसी जातियाँ अब भी इस प्रक्रिया में हैं।

दूसरी बात यह है कि जहाँ लम्बे अरसे से आदिवासी लोग एक जगह बसकर खेती करने लगे हैं (जैसे कि संथाल, मुंडा एवं उरांव जातियाँ), वहाँ भी वन उपवन का संग्रह इनके आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। जहाँ जंगल कट गये हैं, वहाँ के आदिवासी वन उपज संग्रह करने के विकल्प के रूप में कम मजदूरी पर मजदूर बनकर दूर दराजों में प्रवास कर गये। यह खेती से प्राप्त आमदनी के साथ मिलकर उनकी जीविका का आधार बनता है। जिन क्षेत्रों में जंगल बचे हुए हैं, गाँव की आधी आय वन उपज से होती है। कुछ सदान आम तौर पर आदिवासियों से बुरी आर्थिक स्थिति में पाये जाते हैं (साहू, तेली जैसे व्यापारियों और अन्य बिचौलियों और जमींदारों को छोड़कर)। वे आदिवासियों से भी ज्यादा वन उपज के

संग्रह और बिक्री पर निर्भर हैं। अतः भारखण्ड क्षेत्र की विशेषता यह है कि उसके आर्थिक जीवन में संग्रह एवं उत्पादन दोनों ही महत्वपूर्ण हैं।

इस मिश्र भारखण्डी संस्कृति की और एक विशेषता यह है कि यहाँ राजसत्ता विकसित करने की प्रक्रिया कमजोर रही है। जो चेरो और नागवंशी राज्य बने थे, उनको राज्य के गठन की पूर्व-स्थिति का कहना ज्यादा ठीक होगा, क्योंकि उनके पास स्थायी सेनाएँ नहीं थीं। कुमार सुरेश सिंह बताते हैं कि राजसत्ता द्रविड़ कबीलों की विशेषता थी, जिन्होंने भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाया था और यह विशेषता कोलेरियन (संथाल, हो, मुंडा) कबीलों की नहीं थी, जिनमें भूमि कविलों की सम्पत्ति मानी जाती थी। कोलेरियन जातियों में सिर्फ प्रबल वंशों का विकास हुआ, राजसत्ता का नहीं। राजसत्ता के विकास के अभाव के चलते भारखण्डी समाज राज्य-तंत्र के प्रतिकूल रहा है। जब पहली बार अंग्रेजों ने इस क्षेत्र में शासन-तंत्र की स्थापना की, तो उनको जिन बिचौलियों का उपयोग करना पड़ा—चाहे वे व्यापारी, या साधारण कर्क या पुलिस कर्मचारी हो—उन्हें बाहर से लाना पड़ा था। इसी वजह से 'दिकू' (यानी बाहरी आदमी) और शोषक एक समझे जाने लगे। राजसत्ता विकसित न होने के कारण जनता सशस्त्र बनी रही, जिसके लिए वन पर आधारित अर्थव्यवस्था भी एक कारण थी। राजसत्ता का विकसित न होना, इसका प्रभाव भारखण्डियों की संस्कृति और मानस पर रहा है।

राष्ट्रीयता का प्रश्न

अब हम भारखण्ड राज्य की मांग के सवाल पर लौटेंगे। अगर भारखण्ड सिर्फ एक आदिवासी राज्य नहीं है, तो फिर यह क्या है? नवगठित भारखण्ड समन्वय समिति ने इसे भारखण्डी राष्ट्रीयता की मांग बताया है। इस पर मार्क्सवादी तुरन्त यह आपत्ति खड़ी करते हैं कि भारखण्ड में कोई एक आम भाषा नहीं है। यह सच है। यह भी सच है कि ऐसी भाषा

(या सम्पर्क) का अस्तित्व राष्ट्रीयता निर्माण की प्रक्रिया को मजबूत कर सकता है। पर क्या एक आम भाषा के अभाव में एक राष्ट्रीयता जन्म ले ही नहीं सकती? या ऐसी भाषा के निर्माण होने तक कोई जनसमूह राष्ट्रीयता का दर्जा मांग ही नहीं सकता?

नागा जाति में तीन भाषाएं प्रचलित हैं—आओ, सेमा और अंगामी कबीलों की भाषाएं। यह उदाहरण साबित करता है कि आम-भाषा का अभाव कोई अलंघ्य बाधा नहीं है। जैसा कि लेनिन ने बताया है, स्विटजरलैंड में भी तीन राजकीय भाषाएं होने के बावजूद, उसे इस वजह से कोई परेशानी का सामना नहीं करना पड़ा। हालाँकि वहाँ इतालवी, जर्मन एवं फ्रांसीसी भाषाएं बोली जाती हैं। क्या कोई यह नामंजूर कर सकता है कि स्विस जनता की एक बहु-राष्ट्रीय राज्य के रूप से ही नहीं, बल्कि एक राष्ट्रीयता के रूप में पहचान बनी हुई है? और भारत का क्या? क्या एक भारतीय राष्ट्रीयता का निर्माण हो रहा है या उसमें सिर्फ विविध भिन्न राष्ट्रीयताएं ही हैं?

यदि हम इस बात को भूल जाय कि लेनिन और स्टालिन ने राष्ट्रीय सवाल का जो विश्लेषण किया था, वह पूँजीवादी यूरोप की खास स्थिति पर आधारित था; तो विश्व में अन्य जगह चल रही प्रक्रियाओं को समझना मुमकिन न होगा। जैसे पश्चिमी यूरोप में प्रबल, केन्द्रीकृत राजसत्ता का जन्म पूँजीवादी राष्ट्रों के गठित होने एवं उनके परिपक्व हो जाने के कारण हुआ। पर चीन और यूनान और कुछ हद तक भारत में भी, केन्द्रीकृत राजसत्ता का जन्म सामन्तवाद के युग में ही हुआ था। मार्क्स ने यह साफ समझ लिया था कि अलग-अलग संरचनाओं में राष्ट्रों का जन्म अलग-अलग तरीकों से हो सकता है। इसलिए वे 'कृषक राष्ट्रों' और 'पशुचारी राष्ट्रों' का जिक्र करते हैं। उन्होंने इन सामन्तवादी एवं सामन्तवाद-पूर्व राष्ट्रों और 'शिकारी एवं मछुवाही कबीलों' में विभेद किया है। चीनी कम्यूनिस्टों ने राष्ट्रीय सवाल पर यूरोपीय अवधारणा को साफ-

साफ नकारा। उन्होंने 'राष्ट्रीयता' शब्द से सभी जातीय समूहों को चिन्हित किया और सबको एक-सा दर्जा दिया, भले ही वे ऐतिहासिक विकास के किसी भी स्तर पर हों।

भारत में प्रक्रिया यह रही है कि भौतिक आधार के रूप में आवासी कृषि के प्रचलन के प्रभाव से पहले कबीले वंशों के बदले और उसके बाद स्थानीय शासक वर्गों (या उप-शासक वर्गों) का विकास हुआ। असम की अहोम जाति और पंजाब की जाट जाति जैसी कुछ जातियों ने खुद अपनी राष्ट्रीयताओं के जन्म में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी हैं। हाल ही में नागा और मिजो जातियां राष्ट्रीयताओं के रूप में उभरी हैं।

साम्राज्यवाद ने राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की संरचना की प्रक्रिया को विकृत किया। यह कई तरह से हुआ जैसे कि मनमानी प्रादेशिक सीमाओं की स्थापना करके। इस सन्दर्भ में सबसे ज्यादा पीड़ित वर्ग आदिवासी वर्ग रहा है। उनके अलग-अलग राज्यों में बाँट दिया गया और उनमें कोई मजबूत शोषक वर्ग भी नहीं था जो राष्ट्रीयता का दर्जा प्राप्त करने की लड़ाई के लिए उन्हें संगठित कर सकता। आगे, साम्राज्यवाद ने मजदूरी पर काम करनेवाले श्रमिकों और अन्य पैसों पर आधारित स्थितियों को कायम किया। भारखण्डियों को पानी ढोनेवालों और लकड़ी चीरने वालों में बदल दिया गया। उपज जुटाने वालों के रूप में हो या सस्ते मजदूरों के रूप में (पहले कूली मजदूर के रूप में, फिर चाय बगानों में, फिर कोयला खदानों में, आदि) जैसे भी हो, वे अर्थव्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर थे। आज तक भारखण्डियों की इस स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है।

इस बदतर स्थिति को बरकरार रखने में एक प्रतिष्ठित और विकसित राष्ट्रीय पहचान के अभाव ने काफी योगदान दिया है। (भारखण्डियों की निचली सामाजिक आम मजदूर वर्ग एवं अन्य उत्पादक वर्गों से भी बदतर है।) जातीय एवं राष्ट्रीय उत्पीड़न / विभेद से वर्ग शोषण और भी तेज हो जाता है। राष्ट्रीय दमन से मजदूर अपनी

गरिमा खोकर चरम शोषण के शिकार बन जाते हैं, और उनकी संघर्ष करने की शक्ति कम हो जाती है। साम्राज्यवाद और भारतीय शोषक वर्गों को इसकी जरूरत है कि भारखण्डी एक कूली राष्ट्र बनें, ताकि उन्हें कम से कम मजदूरी प्राप्त मजदूरों और उत्पादकों का दर्जा देकर दबाया जा सके। कूलो का यह दर्जा सिर्फ असम और बंगाल की चाय बगानों में काम कर रहे निर्वासित भारखण्डियों में ही नहीं (इन स्थायी मजदूरों की आमदनी बड़े उद्योगों में काम कर रहे मजदूरों में सबसे कम है, और कई अन्य उद्योगों के ठेकेदारी मजदूरों से भी कम है।), बल्कि उनकी भारखण्डी जन्मभूमि में भी है।

वर्ग शोषण

अत्यधिक वर्ग शोषण और राष्ट्रीय दमन के बीच का संबंध 1970-80 के दशक के प्रारम्भ में धनवाद में हुए संघर्षों की लहर में प्रकट हुआ। ट्रेड यूनियन संघर्ष को सही रूप से राष्ट्रीय पहचान की स्थपना के साथ जोड़ा गया और इसी मिठाप की वजह से कोयला खदान मजदूरों में सबसे निचले तबकों को कुछ फायदे भी हुए। जो समाजवादी हैं लेकिन केवल मजदूर वर्ग को फायदे दिलाने के बारे में ही सोचते हैं, उनके लिए यही एक बात भारखण्ड राज्य के आन्दोलन का समर्थन करने के लिए काफी होनी चाहिए। अबतक भारखण्ड राज्य नहीं मिलने पर भी, खुद भारखण्ड आन्दोलन भारखण्डी मजदूरों को हिम्मत प्रदान कर रहा है; सिर्फ उन्हीं मजदूरों को नहीं जो भारखण्ड में हैं, बल्कि उन्हें भी जो बंगाल और असम में हैं। भारखण्ड राज्य के लिए संघर्ष करने पर से वर्ग शोषण खत्म नहीं हो जायेगा, लेकिन सबसे अधिक अपने अधिकारों से वंचित मजदूरों के हाथों में यह एक ऐसा हथियार होगा, जिससे वे कम से कम शोषण की अत्यधिकता को मिटा कर शोषण को एक 'सामान्य स्तर' (अन्य राज्यों में मजदूरों के शोषण के स्तर) पर तो ला ही सकेंगे।

भारखण्डी मजदूरों का यह अति शोषण भारखण्ड के किसानों (जो भारखण्ड क्षेत्र का प्रधान वर्ग हैं) की कमजोर हालत से जुड़ा हुआ है। जैसे कि पहले बताया जा

चुका है, यह वर्ग कुछ ही जगहों में पूरी तरह से किसान है; खेती के साथ-साथ यह वर्ग वन-उपज संग्रह भी करता है। सेठों-महाजनों-नौकरशाहों का गठबंधन इन उत्पादकों का खून चूसता रहता है। जंगलों के कट जाने से उनकी पुरानी दुनिया उनसे छिनती जाती है और नयी दुनिया में उन्हें सीमान्त दर्जा ही प्राप्त होता है। भारी संख्या में कार्यान्वित की गयी व की जा रही बान्ध एवं अन्य परियोजनाएँ उनकी इस स्थिति को कायम रखने व बदतर बनाने में योगदान कर रही हैं। यह एक दुःखद विडंबना है कि भारखण्ड में बान्धों को संख्या बढ़ती जा रही है, लेकिन भारखण्ड में सिंचित भूमि का अनुपात घटता गया है।

भारखण्ड में राजनैतिक आन्दोलन के साथ भूमि के सवाल का निकट संबंध रहा है। यह संबंध केवल 19 वीं सदी के किसान विद्रोहों में ही नहीं था, बल्कि आज भी है। डेबरा-गोरीबल्लभपुर में 1969-70 में हुए किसान संघर्ष, जो बहरागोडा एवं बिहार-बंगाल-उड़ीसा सीमा के अन्य इलाकों में फैल गये, भारखण्डी लोकसाहित्य का एक हिस्सा बन चुके हैं। धनवाद के बाहर, 1970-80 के दशक के बीच में भारखण्ड मुक्ति मोर्चा का विस्तार, साहुकारों से जमीन वापस छीनने के लिए किये गये जुभाऊ जन-आन्दोलनों से जुड़ा हुआ है।

वनाधिकारों के सवाल को वह प्रमुखता नहीं दी गयी है जो भूमि संबंधी सवालों को मिली है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में हुए विद्रोह के बाद पारित छोटानागपुर कास्तकारी अधिनियम, न केवल भूमि के हकों को मान्यता देता है, पर कुछ जगहों में वनों पर समुदायों के हकों को भी मान्यता प्रदान करता है। ये 'खूँटकट्टी' जंगल अब भी सरकार के नहीं, बल्कि समुदायों के हाथों में हैं। 1850-के दशक के मध्य में पलामू में फेतल सिंह के नेतृत्व में, खेसवारों ने 'जंगल-राज' के लिए एक आन्दोलन छेड़ा था। 1970-80 के दशक में और बाद के वर्षों में जंगलों की कटाई, एकल यूकलिप्टस वनरोपण आदि सवाल भी उठाये गये हैं। ताबजूव है कि वन उपज के लाभकारी कीमतों की

मौग पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। इसके कारणों का विश्लेषण जरूरी है।

जंगलों की कटाई की समस्या के साथ बान्धों, खदानों, कारखानों और छावनियां से हुए विस्थापन की समस्या भी आ जुड़ी है। जमीन और जंगल हाथ से निकल जाने के चलते लाखों भारखण्डी बेसहारा हो गये हैं और सस्ते में अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए मजबूर हो गये हैं। राष्ट्र और राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतिष्ठा की माँगों, पूँजीवादी जनतंत्र की सीमाओं के अन्दर हैं। यह माँग सभी प्रकार के जातीय दमन और संघर्षरत राष्ट्रीयताओं के खिलाफ विभेद खतम करने की माँग है। यह माँग एक अखण्ड (बहु-राष्ट्रीय) भारत के निर्माण की प्रक्रिया में बराबर हिस्सेदार बनाये जाने की माँग है। ये सारी बातें यह दर्शाती हैं कि भारखण्ड की माँग पूँजीवादी जनतंत्र के अनुकूल है।

आद्यपूँजीवादी वर्ग का विकास

पर क्या भारखण्ड में शोषक वर्ग मौजूद है? ऐसे भी लोग हैं जो भारखण्ड में पूँजीपति वर्गों के अस्तित्व की बात को नकारते हैं। वे यह भी नकारते हैं कि भारखण्ड में वर्ग हैं। पर ये सब काल्पनिक बातें हैं। भारखण्डियों के बीच न केवल विविध उत्पादक वर्ग हैं, बल्कि विभिन्न शोषक वर्ग भी हैं। पर ये मुख्य शोषक नहीं हैं; साम्राज्य-वादी, दलाल पूँजीपति, राज्य, और बड़े व्यापारी-साहूकार, नौकरशाह मुख्य शोषक हैं। यहाँ जो थोड़े-से जमींदार और धनी किसान हैं भी, वे पुराने राजवंशों और शक्तिशाली वंशों तक ही सीमित हैं। चूँकि, सभी स्थानीय वर्गों पर दमन चलता है और विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच एक सामाजिक एकता है, इसलिए इन वर्गों के साथ उनके मजदूरों के कुछ विशेष संबंध हैं। उदाहरणतः, आदिवासियों के बीच ही नहीं, बल्कि अर्द्ध-आदिवासी समूहों (महतो आदि) में भी मालिक और नौकर साथ बैठकर खाने का रिवाज है। दोनों की थालियाँ घर की महिलाओं द्वारा धोयी जाती हैं—यह पुरुषों में समानता और महिलाओं की अधीनता की स्थिति, दोनों का परिचायक है।

शोषक वर्गों में छोटे व्यापारियों और छोटे ठेकेदारों की संख्या का बढ़ना एक महत्वपूर्ण बात है। छोटे व्यापारी ज्यादातर स्थानीय व्यापारी जातियों के हैं, जैसे साहू और तेली; यद्यपि कुछ नये लोग भी हैं, जैसे स्कूलों के शिक्षक एवं अन्य सरकारी कर्मचारी, जिनके पास कुछ नगद हुआ करता है। इन छोटे व्यापारियों और सेठ-महाजनों के बीच फर्क सिर्फ उनके लेन-देन के पैमाने का ही नहीं, बल्कि खरीदारी के दौरान बिक्रीताओं के साथ रिश्ते में भी फर्क है। भारखण्डी दो किस्म के व्यापारियों में भेद करते हैं—वे जो कीमत बोलने से पहले माल उठा लेते हैं और वे जो कीमत तय करने के बाद ही माल उठाते हैं। वे समझते हैं कि पहले किस्म के व्यापारी बल-प्रदर्शन से सौदा करते हैं, जो जातीय दमन का परिचायक है। यह सेठों और महाजनों का तरीका है, जो जातीय दमन से मुनाफा कमाते हैं।

औद्योगिक केन्द्रों और सरकारी लोक-निर्माण योजनाओं के साथ जुड़कर कुछ छोटे भारखण्डी ठेकेदारों का जन्म हुआ है। भिन्न-भिन्न समयों में भारखण्ड आंदोलन को खरीदने के प्रयासों के फलस्वरूप इन ठेकेदारों का जन्म हुआ है।

समय के साथ-साथ हम देखते हैं कि छोटे व्यापारियों एवं छोटे ठेकेदारों के रूप में एक आद्यपूँजीपति वर्ग का उदय हुआ है। दस साल पहले इसके सिर्फ तत्व मौजूद थे, अब एक वर्ग नजर आने लगा है। आद्य-पूँजीपति तत्वों को आद्य-पूँजीपति वर्ग की तुलना में अधिक आसानी से खरीदा जा सकता है। भारखण्ड राज्य की स्थापना इस वर्ग के हित में होगी। उसमें वे सरकारी एवं नौकरशाही शक्ति का इस्तेमाल अपनी पूँजी निर्माण करने में कर सकेंगे।

भारखण्ड आन्दोलन की वर्तमान स्थिति में प्रवेश करता हुआ एक महत्वपूर्ण वर्ग है शिक्षित युवकों का। इनकी संख्या में भी भारी वृद्धि हुई है। भेदभाव किये जाने और हावी राष्ट्रीयताओं द्वारा उनको नीची नजर से देखे जाने के चलते शिक्षित युवक भारखण्ड आन्दोलन की तरफ खिंचते जा रहे हैं।

मजदूर वर्ग के लिए महत्वपूर्ण

कुल मिलाकर भारखण्ड में वर्गीय एवं सामाजिक हितों का मेल प्रजातीय व राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साकार होने की दिशा में बढ़ता हुआ नजर आता है। पर इसका सफल होना आन्दोलन की शक्ति पर निर्भर करेगा। अगर वह आगे बढ़ता है और देश के अन्य जनतांत्रिक आंदोलनों से जुड़ता है तो फिर भारखण्डी पहचान परिपक्व होकर अखण्ड भारत में बराबरी का हिस्सेदार बनने का दावा कर सकती है। अगर यह आगे बढ़ने में असफल होता है, तो भारखण्ड की जनता इसी अवस्था में रहकर अधीनस्थ जातियों और कूली मजदूरों में बदल जायेगी।

परिभाषाओं पर जोर दिये बगैर, यह सवाल पूछना जरूरी है कि क्या भारखण्डियों को जातीय दमन का सामना करना पड़ता है? ऐसे दमन के खिलाफ संघर्ष स्पष्ट रूप से न्यायसंगत है, और इस दमन की शिकार जनता की एकता और संगठित संघर्ष से एक राष्ट्रीयता की स्थापना हो सकती है।

1950-60 के दशक में जब नागा कबीलों ने आत्म-निर्णय का हक माँगा था तब तक क्या वे एक राष्ट्रीयता

बन चुके थे? या इस संघर्ष के दौरान वे एक राष्ट्रीयता के रूप में विकसित हुए थे? विकसित राष्ट्रीयताओं या मुख्य धारा के पुरोधा विद्वानों को यह हक नहीं है कि वे यह तय करें कि अपने को एकरूप समझनेवाले जातीय समूहों को राष्ट्र या राष्ट्रीयता का दर्जा कब मिलना चाहिए। इन सवालों का जवाब संघर्ष के मैदान में ही मिलेगा। जब राष्ट्रीय दमन के खिलाफ संघर्ष की प्रक्रिया जारी है तो उसका समर्थन करना जनवादी शक्तियों का कर्तव्य है।

आखिरी बात यह है कि यह संघर्ष सिर्फ भारखण्डियों के लिए ही महत्व नहीं रखता है। मैदानी क्षेत्रों में राजसत्ता जितना दमन करती है, उससे कहीं अधिक दमन भारखण्डी आन्दोलन पर करती है। भारत में जनतांत्रिक आधार निर्मित करने के लिए, जातीय या राष्ट्रीय दमन एवं भेदभाव के खिलाफ संघर्ष महत्वपूर्ण है। यह संघर्ष मजदूर वर्ग के लिए भी महत्वपूर्ण है। भेदभाव खत्म करने और सबसे कम मजदूरी प्राप्त मजदूरों के वेतन बढ़ाने की लड़ाइयों मजदूर आन्दोलन के जरूरी अंग हैं। इस तरह भारखण्ड आन्दोलन एक महत्वपूर्ण आन्दोलन है, जिसे सभी जनवादियों एवं समाजवादियों का समर्थन मिलना चाहिए।

★





उत्तर-पूर्वी क्षेत्र और भारतीय सभ्यता : पूरव की ओर से एक नजर

(मुंडा जाति समूह की महान सभ्यता का इतिहास)

गेल ऑमवेट

गेल ऑमवेट महाराष्ट्र की रहनेवाली एक राजनैतिक कार्यकर्ता एवं बुद्धिजीवी हैं। भारतीय क्रान्ति से संबंधित कुछ मौलिक समस्याएँ पर उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने भारत में जातियों और जनजातियों के संबंध में गहराई से अध्ययन किया है।

प्रस्तुत लेख में गेल ने मुंडा समूह (मुंडा समूह में संथाली, मुंडा, हो, भूमिज, खड़िया, महाली आदि शामिल हैं) के प्राचीन इतिहास और गौरवमय संस्कृति पर नयी रोशनी डाली है। उन्होंने इस बात पर जोर देते हुए कि भारतीय संस्कृति का तीसरा और महत्वपूर्ण घटक (प्रथम दो: आर्य और द्रविड़ है) ऑस्ट्रो-एशियाई अथवा आग्नेय है, बताया है कि मुंडा समूह दक्षिण-पूर्व एशिया के ऑस्ट्रो-एशियाई जाति समूहों से संबंधित हैं; ये जाति समूह कोई हाल में सभ्य हुयी जातियाँ नहीं हैं बल्कि विश्व की प्राचीनतम सभ्य जातियाँ रही हैं; जातियों को उनके भव्य भवनों, नगरों और शोषणकारी समाज व्यवस्था के आधार पर नहीं बल्कि उनके समतावादी और मानवतावादी समाजव्यवस्था के आधार पर अधिक सभ्य माना जाना चाहिये; और भारतीय संस्कृति और सभ्यता में कई महान खोजों और परंपराओं का योगदान करने का श्रेय इस आग्नेय जाति समूह को है। जो लोग मुंडा समूह की जातियों को अविकसित, हाल में सभ्य हुई और हाल में खेती करना सीखी हुई जातियाँ मानते रहे हैं उनको गेल का यह तथ्यनीष्ठ लेख अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर कर देगा।

—संपादक

भारतीय सभ्यता के तत्त्व

भारत एक त्रिकोण है जिसके तीनों बिंदु विश्व के तीन महान सांस्कृतिक क्षेत्रों को सूचित करते हैं— उत्तर-पश्चिम (इरान-इराक, यूरोप), पूर्व, (दक्षिण-पूर्वी एशिया और आगे चीन तक) और दक्षिण (श्रीलंका, अफ्रीका) । साथ ही भारत खुद एक विश्वस्तर की प्राचीन सभ्यता है, हालांकि लोग इसे आमतौर पर “विविधता में एकता” कहकर विभिन्न भाषाओं, धर्मों और प्रजातीय समूहों के संगम के रूप में वर्णित करते हैं। फिर इनकी तीन मुख्य कड़ियों को चिह्नित किया जा सकता है—आर्य या भारतीय-यूरोपीय, द्रविड़ और मुंडरी या आस्ट्रो-एशियाई।

इन तीन विभिन्न तत्वों की भूमिका क्या है ? एक असाधारण बात यह है कि भारत से संबंधित प्रचलित अवधारणाओं पर आर्यवाद हमेशा हावी रहा है, जिसे हम ‘आर्यमिथक’ कह सकते हैं, जो ‘हिंदू’ और इसलिए ‘सांस्कृतिक’ संस्कृति के केन्द्रीय वस्तु के रूप में सांस्कृतिक / आर्य / वैदिक तत्व को लेता है। (कई समाज-विज्ञानियों ने भी इसे स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने कई “महान परंपराओं” को देखने के बदले “एक महान परंपरा” की बात की है, मूलतः सांस्कृतिक और ब्राह्मणवादी परंपरा की, और बाकी को केवल स्थानीय “छोटी परंपराओं” के रूप में देखा है) । मूलतः पश्चिमी साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप ये अवधारणाएँ विकसित हुई हैं। पश्चिमी साम्राज्यवाद की दृष्टि यही रही है कि निकट के पूर्वी-भूमध्य सागरीय क्षेत्र से उत्पन्न होकर यूरोप में पहुँचने के बाद यूरोप से सारी सभ्यताएँ निकली हैं। अंग्रेज और जर्मन “सांस्कृतिवादियों” ने “नस्ल के आर्य सिद्धांत” को प्रतिपादित व प्रचलित किया, जिसमें उन्होंने जाति-व्यवस्था के धार्मिक औचित्य की जगह नस्लवादी व्यवस्था के औचित्य को स्थापित किया, और यह सिद्धांत ऊँची जातियों को मूलतः भारतीय-यूरोपीय आर्यों के वंशजों के रूप में तथा निचली जातियों और आदिवासियों को सांस्कृतिक रूप से निम्न-स्तर के मूल वासिदों के रूप

में देखता है। लेकिन इस सिद्धांत को ब्राह्मणवादी पूर्वाग्रह का समर्थन प्राप्त था और यह पूर्वाग्रह प्रबल भारतीय जातिवादी-सामंतवादी परंपरा में हमेशा मौजूद रहा है। औपनिवेशिक-काल के दौरान ऊँची जातियों के उभरते हुए पूँजीवादी बुद्धिजीवियों ने सीधे नस्ल के इस आर्यवादी सिद्धांत को उलट दिया और इसका आधुनिकीकरण किया। आर्य समाज, विवेकानंद, अरविंद, और गाँधी (भी) के माध्यम से ‘हिंदुत्व’ के एक सुधार के रूप का उदय हुआ, जिसमें हिंदू धर्म के साथ भारतीय राष्ट्रवाद का तादात्म्य स्थापित किया और “राम-राज्य” के रूप में एक स्वतंत्र राज्य के आदर्श का प्रतिपादन किया। इसमें अन्य सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को आत्मसात किया जा सकता है। लेकिन उन्हें एक निम्न स्थिति में शामिल एवं एकीकृत किया जायेगा। इसी तरह से निचली जातियों और आदिवासियों को हिंदूओं में शामिल रखा गया है। महिलाओं और हरिजनों के हित में सुधार प्रस्तुत किये जायेंगे—लेकिन उन सुधारों के आदर्श होंगे : राम-सीता का संबंध, राम-लक्ष्मण का संबंध, राम-हनुमान और राम-शत्रुघ्न का संबंध, याने जातिवादी पितृसत्तात्मक अवधारणा के नये चोले में।

अभी हाल में इसका एक विरोधी द्रविड़ दृष्टिकोण उभरकर आया है। सभी निचली जातियों का एक ‘गेर-आर्य’ परिचय देते हुए जोतिबा फुले ने जो प्रतिपादन किया था वह उक्त द्रविड़ दृष्टिकोण की अग्रगामी अवधारणा रही है, जिसमें बताया गया था कि इन निचली जातियों के लोग भारत के मूल वासिंदे रहे हैं और आर्यों द्वारा उनपर विजय प्राप्त किये जाने एवं जातिवादी व्यवस्था व ब्राह्मणों की प्रभुता के अधीन किये जाने के पहले तक उनका यहाँ एक समतावादी और सामंजस्यपूर्ण समाज था। यह विचार महाराष्ट्र से चलकर तामिलनाडु पहुँचा, जहाँ पेरियार ने उसे अपनाया और गेर-आर्यों को “द्रविड़” कहकर चिह्नित किया। 1920-30 और 1930-40 के दशकों में निचली जातियों और आदिवासियों के “आदि आन्दोलनों” (आदि धर्म, आदि हिंदू, आदि आंध्र, आदि कर्नाटक

और आदिवासी भी) के रूप में भारत में चारों तरफ “मूल वासिदों” की अवधारणा का प्रसार हुआ। दक्षिण में द्रविड़वाद ने विकसित होकर तमिल राष्ट्रवाद का रूप धारण किया। लेकिन द्रविड़ आन्दोलन जातिविरोधी समतावाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से फिसलकर मात्र “तमिलवाद” पर उतर आया।

ये दोनों दृष्टिकोण उत्तर-पूर्वी क्षेत्र को केवल सिमांत और पिछड़ा कहकर चिह्नित करते हैं और बताते हैं कि ऊँची जातियों की हिंदू संस्कृति द्वारा संस्कृतिकरण के प्रवेश एवं अन्य प्रक्रियाओं द्वारा ही वे सभ्य हुए हैं। भारतीय संस्कृति में “मुंडारी” तत्व को कविलाई कहकर चिह्नित किया गया है और आदिवासियों को आदिम और पिछड़े लोगों के रूप में देखा गया है।

क्यों न हम “पूर्व” की ओर से नजर डालें और भारतीय समाज में “मुंडारी” तत्वों और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ उनके सम्पर्क को देखें?

दक्षिण-पूर्व एशिया के गुढ़ रहस्य

खुद दक्षिण पूर्व एशिया पर कुछ पुनर्विचार करते हुए हमें शुरु करना होगा।

ठीक जिस प्रकार से “उत्तर-पूर्व” को एक सीमांत, पिछड़ा क्षेत्र समझा गया है, उसी तरह तमाम दक्षिणपूर्व एशिया को पिछड़ा और देर से विकसित क्षेत्र माना गया है और समझा गया है कि उसने विश्व के अन्य क्षेत्रों से सभ्यता हासिल की है। इस क्षेत्र को दिये गये नामों—“हिन्दू-चीन” और “दक्षिणपूर्वी एशिया”—से भी यह दृष्टिकोण झलकता है, मानो यह मात्र “भारत” (दक्षिण एशिया) और “चीन” (पूर्वी एशिया) से लिये हुए तत्वों के आपस में जुड़ने से बना हो। इसके कुछ प्रमुख इतिहासकारों ने इन्हें “भारतीय कृत” या “चीनी कृत” राष्ट्रों के रूप में देखते हुए स्पष्टतया इस तरह तर्क किया है जबकि पुरातत्वशास्त्रियों की राय में यहाँ की प्रारंभिक आप्रवासी जनता बाहर से (चीन से या भारत और बर्मा होते हुए पश्चिम से) आकर दक्षिणपूर्व एशिया

से होते हुए द्वीपों में पहुँची है। इस प्रकार कहा गया कि यहाँ की सभ्यता का उद्गमस्थल कहीं और है—चीन में और यहाँ तक कि यूरोप में भी।

लेकिन पिछले 20 वर्षों के दौरान पुरातत्वीय शोधों ने इस परंपरागत धारणा को चकनाचूर कर दिया है और इस समझ को जन्म दिया है कि बिल्कुल शुरु के कुछ कृषि तकनीकों और धातुविज्ञान का आविष्कार दक्षिणपूर्व एशिया में ही हुआ था और वहीं के लोगों द्वारा किया गया था। इन शोधों से दक्षिणपूर्व एशिया के समाजों और राष्ट्रों को उनके खुद के विशिष्ट अनूठे रूप में देखने की एक बेहतर समझ बनने की प्रक्रिया शुरु हुई है, मात्र अन्यत्र उत्पन्न ढाँचों के “नकलो” या “व्युत्पत्तियों” के रूप में नहीं।

दक्षिण-पूर्व एशिया के भाषा समूहों में ‘आस्ट्रोनेशियाई’ और आस्ट्रो-एशियाई “मोन ख्मेर” भाषा परिवार शामिल है। खासी को “मोन ख्मेर” भाषा परिवार की श्रेणी में रखा गया है, जबकि मुंडा को एक संबंधित भाषा माना गया है। अगर हम इस संभावना को मान लेते हैं कि हजारों वर्ष पहले पूर्वी भारत के मूल वासिदों मुण्डा भाषा-भाषी थे, तब हम एक विस्तृत सांस्कृतिक क्षेत्र को चिह्नित कर सकते हैं, जिसका विस्तार पूर्वी-मध्य भारत से लेकर दक्षिण पूर्वी एशिया होते हुए दक्षिण चीन तक है। यही क्षेत्र धान की खेती का उद्गम क्षेत्र भी माना जाता है।

कृषि और धातु-कर्म का आविष्कार

उत्तरी और उत्तरी-पूर्व थाईलैंड में पुरातत्वशास्त्रीय आविष्कारों ने यह साबित कर दिया कि कम से कम ईसा के 10,000 वर्ष पहले कुछ पौधों (कंद, कद्दू, खीरा, मटर, सेम) को इंसान के इस्तेमाल में लगाया गया और ‘स्लैश-बर्न’ प्रणाली प्रचलित थी तथा ई० पू० 3500-3000 के इर्द-गिर्द धान की खेती शुरु की गयी थी। साबित हुआ कि विश्व में सर्वप्रथम आम तौर पर पौधों की खेती और खास तौर पर धान की खेती की शुरुआत इस क्षेत्र में हुई

थी। दक्षिणपूर्वी-एशियाई के पिछड़ेपन की धारणा छिन्न-भिन्न हो गयी। इसके अलावा, ई० पू० 7000 में रस्सी से निशान लगाये गये बर्तन पाये गये (जैसे असम और पूर्वी भारत में पाये गये)। बताया जाता है कि ई० पू० 3000 के पहले जानवरों को पालतू बना लिया गया था, खासकर “बोस इंडिकस” याने भारतीय साँड़ जैसे एक जानवर को। अन्त में, ई० पू० 3000-2500 में कुल्हाड़ियों और कंगन समेत कौंसे की सामग्रियों का व्यवहार यह सूचित करता है कि शायद दुनिया के कांस्य-युग की जड़े उत्तर-पूर्वी थाईलैंड में हैं।

यह बात ध्यान देने लायक है कि ये आविष्कार पहाड़ी और पठारी इलाकों में हुए हैं जो आज “पिछड़े” इलाके हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के मामले में अनोखी बात यह हुई है कि एक तरफ यहाँ लोगों ने कृषि, जानवरों को पालतू बनाना, कौंसा बनाने जैसी तकनीकी उपलब्धियों को विकसित किया है, जिन्हें “सभ्यता” का आधार माना जाता है, लेकिन उन्होंने खुद शहरों, युद्ध, विशाल अट्टलिकाओं और धर्मों को विकसित नहीं किया जिन्हें सभ्यता का लक्षण माना जाता है। भारत और चीन में दुनिया के कई हिस्सों में जैसा हुआ, उसी तरह विकसित खेती के तकनीकों के आधार पर राज्यों और वर्ग समाजों के लिये अतिरिक्त उत्पादन जुटाया। (अभीभाषा वैज्ञानिक लोगों का तर्क है कि “हल”, “बीज”, “मिट्टी के बर्तन”, “कुल्हाड़ी”, “नाव”, “लोहा” और “सोना” के लिए व्यवहृत शब्दों को दक्षिणपूर्व-एशियाई भाषाओं से चीनी भाषा में लिया गया है, इसके विपरित नहीं, जैसा कि पहले सोचा जाता था)।

इस प्रकार दक्षिणपूर्वी-एशियाई तकनीकी उपलब्धियों ने शहरी जीवन, राज्यों और वर्ग समाजों का उद्भव संभव बनाया जबकि वे खुद समतावादी गाँवों में ही रहते रहे। “सांस्कृतिक विकास की पहेली” कहकर इसका उल्लेख किया जाता है। लेकिन अगर हम “विकास के इस प्रतिरोध” को “सांस्कृतिक पसंद” के रूप में लें तो यह बात उतनी अधिक पहेली नहीं लगेंगी। “सभ्यता” का अर्थ केवल युद्ध, राजनीतिक प्रभुत्व और वर्ग असमानता एवं सावकाश प्रशासकीय, पूजारी-योद्धा और व्यापारी द्वारा

मेहनतकश जनता का शोषण ही नहीं होता है, उसमें महिलाओं पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण और शायद अधिकांश जनता द्वारा असीम कार्य कराया जाना भी शामिल हैं—क्योंकि किसी भी प्रकार की खेती के लिए शिकार और संग्रह की तुलना में अधिक घंटे काम करना पड़ता है और कुदाली से खेती या “स्लैश-बर्न” की खेती की तुलना में हल द्वारा खेती करने तथा गहरी सिंचाई में अधिक काम करना पड़ता है। अधिक “विकसित” तकनीक का एक ही फायदा है कि वह प्रति एकड़ भूमि के उत्पादन से अधिक लोगों को खाना देता है। इसका मतलब यह है कि आबादी के दबाव के चलते लोग अधिक सघन तकनीकों के इस्तेमाल के लिए मजबूर होते हैं, हालाँकि इससे उनको अधिक मेहनत करना पड़ता है। दक्षिण पूर्व एशिया में अनोखी बात यह है कि इस प्रक्रिया को काफी हद तक धीमा कर दिया गया। इसका मतलब यह हुआ कि, शायद, उन्हें शुद्ध तकनीकी प्रक्रिया की तुलना में समानता अधिक पसंद थी। जैसा कि हम देखेंगे, ईसा के बाद की प्रारंभिक शताब्दियों में दक्षिणपूर्व एशिया में राज्य-वर्ग समाजों के विकास के बाद भी, उनका ग्राम-आधार कायम रखा गया, और आज भी कायम है, जहाँ सर्वाधिक समतावादी रिश्तेदारी और अन्य सामाजिक ढाँचे देखने को मिलते हैं।

लोहा, सिंचित धान खेती और राज्यों के प्रारंभ

पहाड़ी ढलानों पर या जंगलों में सूखी धान खेती और सिंचित धान खेती से ही एशिया की नदी घाटियाँ विभिन्न प्रकार की सभ्यताओं के केन्द्र बनी हैं। यहाँ हम उत्तर-पूर्वी थाईलैंड में विकसित नयी चीजों का भी पता लगा सकते हैं। करीब 1000 ई० पू० से कोराट पठार में सिंचित धान खेती के चिन्ह पाये गये हैं, और उनके साथ ही वहाँ उस वक्त लोहा के इस्तेमाल एवं भैंस को पालतू बनाये जाने की बात का भी पता चला है। फिर यह सिंचित धान अर्थव्यवस्था थाईलैंड की चाओ फाया नदी के किनारों पर की समतल भूमि में भी फैली और वियतनाम में भी ऐसा

ही हुआ। अतिरिक्त उत्पादन और व्यापार को वृद्धि से ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में दक्षिण-पूर्व एशिया के कथित “भारतीयकृत राज्यों” के आविर्भाव का आर्थिक आधार बना।

सेनगुप्ता ने सिंचाई की इस प्रणाली को मोड नहरों पर आधारित सिंचाई कहा, जो नहर वर्षा ऋतु के दौरान बहने वाले पानी तथा सतह निकास तालाबों से पानी ग्रहण करती हैं और उन्होंने इस बात को नोट किया कि ऐसा भारत के सभी पूर्वी और दक्षिणी विभागों में होता है और यह नदी में बाढ़ों और मौसमी बारिशों के प्राकृतिक चक्र का इस्तेमाल करता है। वे बिहारी शब्दों का इस्तेमाल करते हुए इसे सिंचाई की “अहरा-पैने प्रणाली” कहते हैं और तर्क देते हैं कि यह लोहा के आविष्कार से संबंधित है। वे इसके साथ आदिवासी संबंध को देखते हैं :

आलचिन और आलचिन सुझाते हैं कि मिट्टी और पत्थर के तटबंध, (जिनका इस्तेमाल नीलगिरि के बडगा आदिवासी सीढ़ीदार खेतों की सिंचाई के लिए संग्रह-तालाबों के रूप में करते हैं) मैसूर में लोहा के आविष्कार के बाद, भारत में चालू की गयी प्रथम कृत्रीम सिंचाई तकनीक थे। ठीक इसी प्रकार के ढाँचों का इस्तेमाल पूर्वो-मध्य भारत में संथाल आदिवासियों द्वारा व्यापक रूप से किया जाता है, और ज्ञातव्य है कि यह क्षेत्र देश में लोहा का एक प्रमुख भंडार-स्थल है। 1930-40 के दशक में भी करीब हर संथाली गाँव में ऐसा एक बाँध था।

ऐसे तकनीक से भूमि का सघन उपयोग और तुलनात्मक रूप से सघनतर आबादी संभव होती है और फिर सेनगुप्ता सुझाते हैं कि, “अहर-पैने सिंचाई तकनालोजी एवं सघन धान खेती से संबंधित तकनीकों का आविष्कार के चलते बुद्ध के काल में दक्षिण बिहार की गंगा घाटी के मैदानी इलाकों में व्यापक रूप से लोग आबाद हुए हैं और इस प्रकार इन आविष्कारों ने प्रथम राज्यों और फिर मौर्य साम्राज्य को जन्म दिया।”

लगता है कि प्रथम दक्षिणपूर्व एशियाई राज्यों के लिए अतिरिक्त उत्पादन मुहैया करनेवाली सिंचित धान

खेती बिल्कुल इसी प्रकार की तकनालोजी पर आधारित रही है।

यह दावा भी किया जा सकता है कि भारतीय आयुर्वेद ने उभरते हुए गंगा घाटी के राज्यों को जन्म दिया, गंगाघाटी के मुंडा भाषी बासिंदों से सिंचित धान खेती के तकनालोजी को ग्रहण किया।

फिर भी इस सिंचित धान खेती से जुड़े हुए सामाजिक संगठन ने ही ऐतिहासिक काल में भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया की विकसित संस्कृतियों के बीच की सर्वाधिक स्पष्ट विभाजक रेखा को दिखाया है।

महान विभाजन

सदियों के राज्य एवं वर्ग शोषण और हिन्दूकरण, इस्लामीकरण, कन्फूशियनवाद के प्रभाव के बावजूद सर्वाधिक दक्षिणपूर्वी राज्य आज भी विश्व में एक सर्वाधिक समतावादी ग्राम-समाज संगठन कायम रखे हुए हैं। निश्चय ही पूँजीवादी घुसपैठ ने आर्थिक शोषण और भूमि-स्वामित्व की असमानताओं को तीव्रतर बनाया है फिर भी ये असमानताएँ कई समाजों की तुलना में यहाँ कम दिखती हैं और आज भी अंतर्विरोध की मुख्य रेखाएँ एक तरफ ग्रामीण कृषक और दूसरी ओर गाँव के उपरिस्थित जमींदार, राजनीतिक अधिकारी गण, व्यापारी और बड़ी कंपनियों के बीच में हैं। जातिगत असमताएँ नहीं हैं। समाज-वैज्ञानिकों ने माना है कि इस क्षेत्र की रिश्तेदारी की प्रणाली विश्व की एक सर्वाधिक समतावादी प्रणाली है (सबसे कम पितृ-सत्तात्मक)।

इस रिश्तेदारी के ढाँचे को “मातृकेंद्रित” कहा जा सकता है, खासकर थाईलैंड, बर्मा, कम्बूजिया और लाओस में। मानव-विज्ञानी लोगों ने इसे “दो तरफा” कहा है क्योंकि कोई विस्तारित कुल-वंशावली पद्धति नहीं है और इसलिए भी कि दोनों, बेटे-बेटियाँ उत्तराधिकारी हो सकते हैं। लेकिन मातृ-स्थानीय निवास चालू ढाँचा है; शादी के बाद पति अपनी पत्नी के साथ रहता है और चूँकि महिलाएँ घर पर ही रहती हैं, इसलिए माँ-बेटी का संबंध स्थायी होता है और ग्राम समाज

का केन्द्र होता है। सबसे छोटी बेटी को घर और बाड़ी उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त होता है और उसके साथ ही बूढ़े माँ-बाप की देखभाल करने की जिम्मेदारी भी। वह घर के प्रेतात्मा की उपासना की परंपरा को कायम रखने की जिम्मेदारी भी वहन करती है। चूँकि क्षेत्र के अधिक भाग में घर पर रहनेवाले बच्चों को ही वस्तुतः सम्पत्ति मिलती है, इसलिए वस्तुतः मातृवंशगत उत्तराधिकार की पद्धति भी प्रमुख है। अधिकतम विवाह आपसी पसंद से होते हैं; तलाक लेना मुश्किल नहीं है और तलाक स्त्रियों या पुरुषों के लिए कोई कलंक का कारण नहीं बनता; घर में घरेलू काम और सत्ता में मोटा-मोटी समान हिस्सेदारी रहती है, और महिलाएँ अक्सर घर का आर्थिक प्रबंधन करती हैं।

माहवारी में अलग रहने, उपवास करने या या पतिव्रता धर्म के अन्य रूपों के पालन के रिवाजों का कोई इतिहास नहीं दिखता, लेकिन पुरुष घर के बाहर राजनीतिक, सामाजिक और वर्ग संगठनों में घर का प्रतिनिधित्व करते हैं।

पूर्व भारत के आदिवासियों की रिश्तेदारी की प्रणाली याने स्त्री-पुरुष संबंधों का ढाँचा स्पष्टतः दक्षिणपूर्व प्रणाली के बहुत करीब है—हालाँकि सदियों से राज्य वर्ग व्यवस्था के प्रभाव ने स्पष्ट रूप से वंशगत ढाँचों और सामुदायिक भूमिस्वामित्व को तोड़ डाला है और पितृसत्तात्मक ढाँचे को समाज पर थोप दिया है (जिसके चलते पुरुष घर के प्रतिनिधि और घर और राज्य के बीच सम्पर्क-सूत्र बने), जो इस क्षेत्र के धर्मों (बुद्ध धर्म, इस्लाम, कंफ्युशियस धर्म) के आम पितृ-सत्तात्मक स्वरूप से प्रभावित हैं।

भारत में राज्य-वर्ग समाज के दृढ़ीकरण ने अपने साथ एक बिल्कुल भिन्न ढाँचे को जन्म दिया है। देशी द्रविड़ परंपराएँ निस्संदेह मातृवंशगत हैं। सर्वाधिक संभावना है कि भारत में मुंडा परंपराएँ दक्षिण-पूर्व एशिया के मोन-कूमेर परंपराओं जैसी ही हैं। पितृवंशगत

आर्य पशुचारी कबीले भी शुरू में औरतों को काफी अधिक स्वाधीनता दिये हुए थे। फिर भी, इस सम्मिश्रण में से, बुद्ध के काल के ईर्द-गिर्द प्राचीन जातिपूर्व आदिवासी मूलों और हरप्पाई परंपराओं पर निर्मित गंगाघाटी के राज्यों के उदय से दृढ़ीकृत सामाजिक संगठन जाति-पितृवंशगत था, जिसकी विशेषताएँ निम्नप्रकार हैं :—

(1) विघटित होते हुए कबीलों और कबीलाई इकाइयों से जातियों का गठन, जो इकाइयाँ ब्राह्मण पुरोहित-पंडितों द्वारा सृजित वर्णों में तालमेल रख सकती थीं।

(2) शोषणकारी आर्थिक संबंध, जिसमें लगता है कि केन्द्रीय धान क्षेत्रों में सर्वाधिक भूमि निजी गृह-पतियों के नियंत्रण में आ रही थी, और उन जमीनों पर वेतन-प्राप्त और आश्रित या दास काम करते थे। इसमें जजमानी पद्धति के बीज हो सकते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं।

(3) पितृवंशगत, पितृस्थानीय रिश्तेदारी की व्यवस्था—जिसमें लड़कीयों की 'शुद्धता', 'सतीत्व' पर भारी नियंत्रण रहता था; अत्यायु में शादी कर दी जाती थी।

जिस जाति-जजमानी व्यवस्था में अत्यधिक पितृसत्तात्मक विशेषताएँ थीं, गाँव के अंदर अत्यधिक असमानता थी, गाँव के हावी भूव्यवस्थापक जाति के अधीन खेतिहर मजदूर और काश्तकार तथा कारीगर हुआ करते थे, यह व्यवस्था "भारतीय सभ्यता" की प्रमुख विशेषता बन गयी। बौद्ध धर्म के 1000 वर्षों की उपलब्धियाँ भी भारत में इसकी सामाजिक प्रधानता को हिला नहीं सकीं और उसके बदले ब्राह्मणवादी "हिन्दू धर्म" की विचारधाराएँ उसके शासक वर्ग की जरूरतों को प्रस्तुत करते हुए आधिपत्य में आयी। बल्कि बचे हुए आदिवासी समूह भी इससे प्रभावित हुए, हालाँकि वे ब्राह्मणीकरण और जाति व्यवस्था पर आधारित हल-खेती की व्यवस्था में शामिल नहीं हुए। मातृवंशगत विशेषताएँ केवल कुछ ही उत्तर-पूर्वी आदिवासियों में बची रही, जबकि सारे मुंडा-भाषी आदिवासी

और भील एवं अन्य प्रमुख समूहों ने पितृवंशागत-पितृस्थानीय रिश्तेदारी व्यवस्था को अपना लिया।

इस प्रकार भारतीय ढाँचा काफी अधिक जटिल, द्वंद्वमय और शोषणकारी था। उसकी वैचारिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में भी वही विशेषताएँ थीं। एक तरफ जटिल दर्शनों एवं पेचीदे कर्मकांड द्वारा समर्थित अत्यधिक असमानताएँ और ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म की श्रेणी-बद्ध समाज व्यवस्थाएँ हैं और दूसरी तरफ निम्न जातियों के शोषित उत्पादकों की युक्तिवादी, वस्तुवादी और नास्तिक प्रवृत्तियों से जुड़ी “गैर ब्राह्मणवादी” परंपराएँ और दर्शन हैं। बौद्ध धर्म, लोकायत दर्शन और सांख्य द्वंद्ववाद (शायद हरप्पाई परंपराओं से जिनकी शुरुआत हुई थी) इन “प्रति-परंपराओं” के प्रारंभिक उदाहरण हैं। शायद उससे भी दृढ़ता के साथ, “आदिवासी समाज” इसका उदाहरण है। क्योंकि, इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि हजारों वर्षों के जातिवादी समाज के घुसपैठ एवं “सांस्कृतिकरण” की प्रक्रियाओं के बावजूद भारतीय उपमहादेश के अंदर आदिवासी अंतर्क्षेत्रों को दीर्घकालीन ऐतिहासिक अवस्थिति एक अनूठी समाजवैज्ञानिक विशेषता है। ये केवल इतिहास द्वारा पार कर गयी किसी ऐतिहासिक चरण के मात्र “अवशेष” नहीं हैं, जिनकी नियति अंततः लुप्त हो जाने में हों, बल्कि वे खुद भारतीय संस्कृति और समाज के जीवित स्तंभ हैं। ब्राह्मणवाद तथा जातिवादी पितृसत्तात्मकता के कई पहलूओं के घुसपैठ के बावजूद, प्रमुख आदिवासी समूह आज भी सामाजिक समतावाद की पद्धतियों व मूल्यों, श्रेणीबद्ध समाज से मुक्ति, महिलाओं के लिए अधिक यौन स्वतंत्रता व स्वाधीनता (खासकर विवाह के पहले लेकिन उसके अंदर भी), प्रणय व प्रेम के प्रसंगों, एक आनंदमुखी जीवन एवं व्यक्तित्व को भी अपने समाज में जीवंत रूप से कायम रखते व जीते हैं। एक समाजविज्ञानी ने इसके बारे में कहा है :—

“निचली हिन्दू जातियों की तरह, आदिवासी प्रजातीय समूह के अन्दर अधिक समान व्यवहार, महिलाओं के लिए अधिक समान दर्जा, स्त्री-पुरुषों में अधिक उदार संबंध,

पति-पत्नी के बीच अधिक व्यक्तिगत संबंध, अधिक रूमानी किस्म के प्रणय, प्रेम संबंधी साहस और प्रेम कलह, और.... बच्चों की देखभाल के सिलसिले में अधिक आत्म-निर्भरता पर जोर देते हैं। जातियों की तुलना में आदिवासियों में अपवित्र होने के नियमों में अधिक छूट है। शुद्धतावाद के अभाव, आमोद-प्रमोद में खुलकर भाग लेना और सामूहिक पहचान की तगड़ी भावना, सब मिलकर संगीत और नृत्य के प्रति आदिवासियों की उमंग को प्रोत्साहित करते हैं”

ब्राह्मणवादी समाज की दृष्टि से संगीत व नृत्य के प्रति आदिवासीओं का प्रेम, आदिवासी सामाजिक व यौन रीति-रिवाज (जैसे प्रसिद्ध गोंड युवा शयनागार) और आदिवासी समतावाद का संबंध ऊपरके पिछड़े, आदिम और जंगली जीवन से संबंधित हैं।

पुराने जमाने में नागों के खिलाफ पांडवों के युद्ध एवं खांडव वन का दहन एवं राम द्वारा राक्षसों का कले-आम तथा आधुनिक युग में गुआ और इन्दरवेली के गोलीकांडों में (प्रतीकात्मक रूप से) मृत दुश्मनी का यही कारण है।

किसी संस्कृति के अन्दर “परस्परविरोधी” एवं “विपरीत” तत्व पुराने पड़ चुके शासक वर्गों व संस्थाओं के खिलाफ विद्रोह व उनके विनाश, एवं समाज विकास के उन्नत स्तर के आंदोलन के स्रोत बन सकते हैं। आज आदिवासी समूह एवं उत्तरपूर्वी क्षेत्र का अधिकांश भाग जन आंदोलनों व विद्रोहों के बड़े केन्द्र हैं और इन आन्दोलनों का बढ़े-चढ़े अक्सर स्वायत्तता हासिल करना रहता है, और विरल स्थितियों में अलगाववाद भी; इन आन्दोलनों में अक्सर पूँजीवाद विरोधी और समतावादी व्यंजना दिखायी पड़ती है। भारतीय समाज को समझने में “पूरव की ओर से” नजर डालना न केवल “भारतीय सभ्यता” के विकास में एक मुख्य तत्व को समझने एवं आदिवासी (खासकर मुंडारी) और उत्तर पूर्वी संस्कृतियों और दक्षिणपूर्व एशिया की प्राचीन संस्कृतियों के बीच संपर्कों को समझने में उपयोगी है—बल्कि ये आज के मुक्ति संघर्षों के लिए निर्णायक देशी तत्वों को खोज निकालने में भी मदद करता है। “आर्य-वादी मिथक” के आधार के साथ बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता एवं निरंकुश शोषणकारी, असमान और पर्यावरण का संतुलन बिगाड़ने वाले पूँजीवादी विकास के युग में इसका महत्व केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि उससे बढ़कर है।

भारखण्ड आंदोलन और सम्प्रदायवाद

ए० के० राय

जब मैं ने “लालखण्ड और भारखण्ड” लिखा था तब यह नहीं सोचा था कि थोड़े दिनों के अन्दर ही हिन्दुस्तान में इस तरह की घटनाएँ घटती रहेंगी जो किताब में लिखी बहुत सारी बातों को सिद्ध कर देगी। आज असम की घटना, पंजाब की घटना, सारे देश में सम्प्रदायवाद और बिखराववाद का फैलाव तथा भारखण्ड मुक्ति मोर्चा के अन्दर हाल के वैचारिक संघर्ष इसके मिसाल हैं।

भारखण्ड आन्दोलन पहले भी था और भारखण्ड पार्टी आज भी है। लेकिन इस लेख में पहला सवाल यह उठाया गया कि, “क्या कारण है कि इन सब को पीछे फेंक कर भारखण्ड मुक्ति मोर्चा तथा नये रूप से भारखण्ड आन्दोलन सामने आकर उभरा? भारखण्ड मुक्ति मोर्चा की शक्ति का स्रोत क्या है?” हरेक कार्यकर्ता के लिए यह जानकारी जरूरी है। वना पुराने भारखण्ड पार्टी के लोगों की तरह भटकते रहेंगे और लक्ष्य दूर ही रह जायगा। यहीं पर मुक्ति की राजनीति को फिर से नये रूप में समझना है। भारखण्ड सिर्फ अलग नहीं होगा, भारखण्ड मुक्त होगा। यह एक आह्वान है जो हिन्दुस्तान की राजनीति में जरजता रहा, जो आदिवासी गैर आदिवासी तथा बाहर के मजदूरों को एक किया। यह एक ऐसे भारखण्ड की कल्पना है जो सम्प्रदायवाद से मुक्त तथा वर्ग संघर्ष से मुक्त है। बिरसा मुंडा का भारखण्ड तथा जयपाल सिंह का भारखण्ड में एक बुनियादी फर्क है, और यह फर्क बिरसा मुंडा के लाल एवं सफेद दो भंडों के अन्दर स्पष्ट है। “बिरसा ने दो भंडे लिए, एक सफेद और दूसरा लाल। सफेद मुंडाओं का प्रतीक था और लाल दिक्कुओं (बाहरी लोगों) द्वारा मुंडाओं और आदिवासियों के शोषण का प्रतीक।” (“बिरसा मुंडा और उनका आन्दोलन”, डॉ० सुरेश कुमार सिंह)

किसी भी राजनीतिक आन्दोलन की तरह भारखण्ड आन्दोलन में भी एक दर्शन की जरूरत है। यह दर्शन एक वैज्ञानिक समाजवादी दर्शन होगा और यहीं मार्क्सवाद का सवाल सामने आता है। भारखंड महज कुछ अलग या अलग संस्कृति में लिपटा हुआ एक विशेष जनसमुदाय नहीं बल्कि शोषित तथा दलित जनसमुदाय की जन्म भूमि है। यहाँ समाजवाद तथा मार्क्सवाद का आधार लिए वगैरे इस दबाये हुए राष्ट्रीयता के अन्दर एक नई शक्ति तथा सम्भावना की सृष्टि असंभव है। इतने दिनों तक भारखण्ड पार्टी इसे खोज कर नहीं पाई। इसलिए आगे नहीं बढ़ पाई। भारखण्ड मुक्ति मोर्चा इस नये विचार भूमि से ही शुरू हुई जो मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित है। इसलिए वह आगे बढ़ी। जिस दिन और जिस हद तक वो इस बुनियादी आधार भूमि को छोड़ देंगे उस दिन और उस हद तक पुराने भारखण्ड पार्टी के साथ कोई फर्क नहीं रह जायगा। फिर पुराने भारखण्ड पार्टी की तरह सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि भारखंड इलाके में भी राजनीति में पीछे चले जायेंगे।

भारखंड मुक्ति मोर्चा के अन्दर कुछ साथी लाल और हरे भंडे के सवाल पर चिन्तित और आतंकित हैं। यह स्वाभाविक है। दरअसल यह भारखंड आन्दोलन में दो धाराओं का संघर्ष है। एक पूँजीवादी धारा-जिसका आधार साम्प्रदायवाद तथा जातिवाद, दूसरा समाजवादी धारा जिसका आधार मार्क्सवाद-लेनिनवाद। किसी भी आन्दोलन के विकास में मार्क्सवाद के साथ गैर मार्क्सवादी तत्वों का टकराव अनिवार्य हैं। यहाँ तक कि प्रतिष्ठित कम्युनिस्ट पार्टियों के अन्दर भी दो धाराओं की लड़ाई जारी है। कोई कम्युनिस्ट यदि किसी दलित राष्ट्रीयता के उत्थान में नेतृत्व दे तो यह जरूरी नहीं कि वह दबा हुआ समाज जो एक पूँजीवादी

स्तर में था, उत्थान के बाद पूँजीवादी स्तर को छलांग मार कर सीधा समाजवादी रास्ते में कम्युनिस्टों का साथी बन जायेगा। यह स्वाभाविक है कि वह सोया हुआ समाज जागने के बाद चारों तरफ के जागे हुए समाज के विभिन्न रास्तों का स्वाद लेने की कोशिश करेगा। विभिन्न पार्टियों में जाने की इच्छा उनमें होगी। सही मार्क्सवादी शिक्षक का काम है उनको तमाम अनुभवों के अन्दर से निकालते हुये सही रास्ते पर पहुँचा देना। इस पर ज्यादा नियंत्रण रखने से उन में पूँजीवादी रास्ते के प्रति और ज्यादा आकर्षण पैदा कर सकता है एवं किसी परिस्थिति में विशेषकर शासक वर्ग के लगानेदार उकसाने में वो एक चरम हानिकारक तथा मातृघातक विद्रोह में बदल सकता है जो त्रिपुरा में हमने देखा है।

आज भारत के राजनैतिक संवाद के रूप में पंजाब तथा असम की घटना सभी को चिन्तित किये हुये है। समुचे भारत में चारों तरफ एक बिखराववादी तथा साम्प्रदायिक आन्दोलन का जोर चल रहा है। ये सारी चीजें पूँजीवादी व्यवस्था के संकट की देन हैं। इन तमाम बातों के साथ भारखण्ड आन्दोलन का कोई सम्पर्क नहीं है। भारखण्ड आन्दोलन न साम्प्रदायिक है और न ही बिखराववादी है। असम एवं पंजाब में वहाँ के स्थानीय शासकों को अपना राज्य मिल चुका है। वहाँ के मन्त्री, संगी सब वे ही लोग है, लेकिन जनता के किसी भी समस्या का समाधान न कर पा कर लोगों को गुमराह करने के लिए वे एक साम्प्रदायिक रास्ता अपनाये है। और हिन्दुस्तान की पूँजीवादी व्यवस्था इस बँटे हुये समाज में साम्प्रदायवाद को फैलाने की सबसे अच्छी जमीन पैदा करते रहा। असम का तमाम आन्दोलन विदेशी के नाम पर कुछ सम्प्रदाय को, जो कि गरीब ही है, उन्हें भगाने का आन्दोलन रहा। अन्त में इसका असली स्वरूप भयावह दंगे में बदल गया लेकिन असम एवं पंजाब

की तरह भारखण्ड कोई अलग राज्य नहीं बना है और न ही यहाँ मंत्री, ऑफिसर, या पुलिस भारखण्डियों के नियंत्रण में हैं। इस से भी बड़ी बात कि भारखण्ड आन्दोलन कभी किसी को भगाने का आन्दोलन नहीं है। हिन्दुस्तान के गरबों की मातृभूमि तथा मुक्ति-भूमि भारखण्ड है।

सवाल उठ सकता है यदि समाजवादी दिशा न रहे तथा मार्क्सवाद कमजोर हो जाय तब क्या भारखण्ड आन्दोलन भी साम्प्रदायिक रास्ता ले सकता है ? इस का जवाब स्वीकारात्मक है। लेकिन समाजवादी दिशा तथा मार्क्सवादी दर्शन नहीं रहने से ही साम्प्रदायवाद तथा जातिवाद पनपेगी। किसान मजदूरों की महान एकता की सम्भावना को शासक वर्ग इसी रास्ते से छिन्न-भिन्न कर देगा। हिन्दुस्तान में औद्योगिक केन्द्र के अलग-बगल बहुत जगहों पर साम्प्रदायिक दंगा हो रहा है जहाँ भारखण्ड आन्दोलन नहीं है। इसलिए साम्प्रदायिकता भारखण्ड राजनीति की देन नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। लेकिन भारखण्ड आन्दोलन की सफलता साम्प्रदायवाद के खिलाफ सफल संघर्ष पर निर्भर है। आज साम्प्रदायवाद तथा जातिवाद के खिलाफ सफल संघर्ष मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर ही हा सकता है। इसलिए भारखण्ड आन्दोलन में मार्क्सवादी विचार को कमजोर करने का मतलब भारखण्ड आन्दोलन को ही कमजोर करना है और समाज को साम्प्रदायवाद तथा जातिवाद के खतरे में डालना है।

मार्क्सवाद तथा भारत में राष्ट्रीयता की लड़ाई का क्या सम्पर्क है ? भारखण्ड आन्दोलन में मार्क्सवादियों की क्या जिम्मेवारी है ? कौन सी लड़ाई उत्थान की है और कौन सी लड़ाई साम्प्रदायिक है ? आज गंभीर रूप से फिर से इस पर विचार करने की जरूरत है।

